Chap-3

अध्याय - तृतीय

राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में, प्रेमचंद के निबंधों एवं पत्र-पत्रिकाओं का विश्लेषण

क-दलित प्रश्न

ख-स्त्री प्रश्न

ग-साम्प्रदायिकता

घ-किसान मजदूर

ङ-राष्ट्र की अवधारणा

प्रेमचंद साहित्य को जीवन की आलोचना के रूप में सदैव ही देखते आए हैं। जीवन से अलग-थलग रहकर साहित्य अनुपयोगी लगता है। अपने अनेकों साहित्यिक निबंधों में उन्होंने इसी बात की वकालत भी की हैं। निबंधों का लेखन कार्य उन्होंने आरम्भिक दौर में ही लिखना शुरु कर दिया था, फिर भी उन्होंने सन् 1905-06 ईस्वीं से लेकर लगभग 1920 ईस्वीं तक कोई भी स्वतंत्र, साहित्यिक विस्तृत निबंध उनका नहीं मिलता।

1906 में उन्होंने "शरर और सरशार" नामक निबंध में लिखा कि उपन्यास को अलौकिक घटनाओं पर रोशनी नहीं डालनी चाहिए। उसे वर्तमान सभ्यता संस्कृति का चित्रण करना चाहिए। आगे फिर वे लिखते हैं कि - "उपन्यास कला का शिखर यही है कि साधारण और सीधी-सादी लेखन शैली में जादू का रंग पैदा कर दिया जाय। पात्रों में जान डाल दी जाएँ, उनके जबान से जो शब्द निकले वह खुद-ब-खुद निकलें, निकाले न जाएँ।[1]

प्रेमचंद कविता और चित्रकला को समान उद्‌देश्य की पूर्ति करने वाली कृति मानते थे। उनके शुरुआती विचार इस सबंध में भी दृष्टव्य हैं। वह सन् 1907 के एक निबंध "चित्रकला" में वे लिखते हैं कि - "कविता की तरह चित्रकला भी मनुष्य की कोमल भावनाओं का परिणाम है। सच्ची कविता की परिभाषा यह है कि तस्वीर खींच दे। इसी तरह सच्ची चित्रकला का यह गुण है कि उसमें कविता का आनंद आए। कविता का श्रेष्ठतम उद्‌देश्य मनुष्य को सुन्दरतम् बनाना है।[2]

प्रेमचंद साहित्य को राष्ट्रीयता की भावना जगाने का साधन मानते थे। इसी निबंध में उन्होंने लिखा है कि - "चित्रकला और कविता दोनों का उद्‌देश्य

मनुष्य को राष्ट्रवादी बनाना है। इसी क्रम में उन्होंने कविता की अपेक्षा चित्रकला को सामाजिक एवं राष्ट्रीयतावादी वस्तु सिद्ध किया।[3]

प्रेमचंद साहित्य के लिए सरल-सहज भाषा-शैली की अपेक्षा करते हैं। शैली का हास्य और व्यंग्य प्रधान होना ज्यादा असरदार होता है। 1906 के लेख 'शरर और सरशार' में उन्होंने इसे प्रकट किया है। इसके बाद 1916 के एक लेख "हँसी" में भी उन्होंने यहीं लिखा है कि - "गद्य हो या पद्य हँसी और दिल्लगी उसकी आत्मा है और उसके बगैर वह रुखी सूखी और बेमजा है।"[4]

उपन्यास के संदर्भ में वह सरशार से सहमत थे क्योंकि उनके उपन्यासों में सत् और असत् भावनाओं का संपूर्ण चित्र अंकित है। वह समस्या का वर्णन करना ही उसकी उपयोगिता मानते हैं। वह लिखते हैं कि - "बहुधा किसी घटना का वर्णन करना स्वयं एक निष्कर्ष होता है। ----- मनुष्य की भावनाओं और स्थितियों व प्रकृति के दृश्यों और संसार के चमत्कारों की तस्वीर खींचना स्वयं एक निष्कर्ष या नतीजा है -------- विज्ञान या दर्शन की बारीकियों को हल करने के लिए उपन्यासकार बनाया ही नहीं गया है।"[5]

प्रेमचंद के प्रारम्भिक साहित्य संबंधी विचारों के आधार पर एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है क्योंकि ये विचार बाद के (1920 के बाद) विचारों से मेल खाते हैं। विचार स्वतंत्र निबंधों और फुटकल लेखों में बिखरे पड़े हैं जैसा कि उनके शुरुआती लेखन से पता चलता है। यही बात वह अपने 1936 के लम्बे निबंध "साहित्य का उद्देश्य" में, लिखते हैं - मेरे विचार से उनकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है।"[6] वह सत्य और असत्य के संग्राम का चित्रण करने वाली विधा को साहित्य मानते हैं। वह परम्परित सुंदरता की कसौटी बदलने की बात करते हैं। "साहित्य का उद्देश्य" में उन्होंने लिखा है कि - "हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व है, इसे वह कदाचित स्वीकार नहीं करता। इसके लिए सौंदर्य सुंदर स्त्री में है, उस बच्चों वाली रहित स्त्री में नहीं जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है।"[7]

निश्चय ही साहित्य के इस उद्देश्य के पीछे गरीबों की पक्षधरता निहित है जिसे प्रेमचंद के संपूर्ण साहित्य में देखा जा सकता है। जब प्रेमचंद साहित्य द्वारा

स्वाधीनता और स्वाभाविकता की आकांक्षा करते है तो प्रकृति से बढ़कर कोई अन्य सहायक उन्हें नहीं मिलता क्योंकि प्राकृतिक सौंदर्य उन्मुक्तपूर्ण, आरम्भिक आह्लाद प्रदायक होता है, अन्य लौकिक, मानव-निर्मित सौन्दर्य अनुकृति होने के कारण सत्य से दूर होता है।

उस समय जब प्रगतिशील आंदोलन को एक वाद के दायरे में बाँधा जा रहा था प्रेमचंद ने प्रगतिशीलता की बड़ी निष्पक्ष व्याख्या की जिसे आज भी प्रगतिवादी नहीं समझते। वे तो प्रगतिशील को प्रगतिवाद का पर्याय मानते हैं। जो अवैज्ञानिक और भ्रांतिपूर्ण हैं। प्रेमचंद जी ने बहुत ही सत्य लिखा है - "प्रगतिशील लेखक संघ, यह विचार ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार भी न होता।"[८]

प्रेमचंद साहित्य का एक उद्देश्य "कर्म का उपदेश" देना भी मानते हैं। इकबाल की तरह प्रेमचंद भी जीवन का रहस्य संघर्ष में मानते हैं।

प्रेमचंद साहित्य को कला की तरह उपयोगी वस्तु मानते थे क्योंकि उसका उपयोग मनुष्य की मनोवृत्ति जगाने और बदलने के लिए भी किया जाता है। वह उपदेश देता है और मनुष्य को कर्तव्य पथ पर दृढ़ रखने की शक्ति भी। उसे शोषकों का विरोध और शोषितों की पक्षधरता करनी चाहिए। उसे राजनीति को निर्धारित करने में तथा उसका नेतृत्व करने में एडवांस गार्ड तथा मशाल का कार्य करता है। उन्होंने लिखा हैं - "वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।"[९] यहीं नहीं साहित्यकार राष्ट्रवादी होने के साथ सार्वभौमिक होता है। उसकी यही सार्वभौमिकता उसे अनंतकाल तक अजर-अमर बनाए रखती है, वह कभी पुराना नहीं पड़ता। प्रेमचंद का यह दृष्टिकोण समूची मानवता के उद्धार के लिए प्रयत्नशील दिखता है। शायद इसीलिए साहित्य का उद्देश्य सुंदर और सत्य को मानते हैं क्योंकि सुंदर और सत्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। प्रेमचंद अमीरों का मुँह जोहने वाले और अमीरों की भाषा-शैली अपनाने वाले साहित्यकार को निकृष्ट कोटि का मानते हैं। सच्चा साहित्यकार गरीबों का पक्षधर होता है और उन्हीं की भाषा-शैली अपनाता है। कदाचित इसी कारण वह इतिहासकार भी होता

हैं। प्रेमचंद यही स्वीकारते हैं - "साहित्य ही सच्चा साहित्य है घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास है। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन-सी वस्तु डाल सकती है। क्योंकि साहित्य अपने देशकाल का प्रतिबिंब होता हैं।"[10]

प्रेमचंद ने अपने साहित्य में निबंध को भी प्रमुख रूप से स्थान दिया है। इसीलिए वे निबंधों के माध्यम से भी मनुष्य के देवत्व को जगाना चाहते हैं। जगाने की यह प्रक्रिया उपदेश देकर नहीं सम्पन्न की जा सकती क्योंकि साहित्य उपदेश का कार्य करने में अक्षम होता हैं। प्रेमचंद मानते हैं कि मनुष्य की कोमल भावनाओं पर चोट करके तथा भावों को प्रकृति के आदर्श से जोड़कर ही साहित्यिक रुचि पैदा करना साहित्यकार का लक्ष्य होना चाहिए। भावों का सौन्दर्य ही साहित्य का आधार होना चाहिए। लेकिन निरा भावुकता ही श्रेय नहीं है उसमें बुद्धिवाद का हस्तक्षेप आवश्यक है। प्रेमचंद इसीलिए बुद्धिवाद को भावुकता को नियंत्रित करने का साधन मानते हैं। वह मनोविज्ञान को भी महत्त्व देते हैं। उनका विश्वास है कि आधुनिक साहित्य मनोविज्ञान के बिना अपूर्ण हैं। साहित्य में हास्य और व्यंग्य, श्रृंगारिकता और रसिकता भी आवश्यक है। वे लिखते हैं - "रसिकता भोजनरूपी जीवन के लिए चटनी के समान है जो उसके स्वाद और रुचि को बढ़ा देती है। केवल चटनी खाकर कोई जीवित नहीं रह सकता।"[11]

'उपन्यास' निबंध के विषय में भी प्रेमचंद ने समय-समय पर कई लेख और निबंध लिखे हैं। किंतु यहाँ भी वही विचार मिलते हैं जो उनके प्रारम्भिक फुटकल लेखों या विचारों में। अक्टूबर 1922 में "उपन्यास रचना" नामक निबंध में उन्होंने उपन्यास पर तार्किक एवं सैद्धांतिक विचार प्रस्तुत करते हुए उपन्यास लेखन के छः साधनों का उल्लेख किया है - "1-अवलोकन 2-अनुभव 3-स्वाध्याय 4-अन्तर्दृष्टि 5-जिज्ञासा 6-विचार-आकलन।" प्रेमचंद 1925 के निबंध में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि - "यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान पर पहुँचा देता है। इसीलिए हम वही उपन्यास उच्चकोटि का मानते हैं जहाँ आदर्श और यथार्थ का समन्वय हो गया हो। ----- साहित्यकार का काम केवल पात्रों का मन बहलाना नहीं है वह तो भांट और मदारियों,

विदूषकों और मसखरों का काम है; साहित्यकार का पद इससे ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है।"[12]

प्रेमचंद का मानना है कि उपन्यास लेखन कहानी से कठिन कार्य है। उपन्यास के लिए वह वार्तालाप की अधिकता आवश्यक मानतें हैं। पात्रों की स्थिति चित्रण से ही कथानक तथा व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए। अपने निबंध "उपन्यास का विषय" में उन्होंने लिखा है कि साहित्य का उद्देश्य सत्य और सुन्दर है। अतः यथार्थ के चित्रण से समस्या का हल नहीं हो सकता। जब तक आदर्श का संबल न ग्रहण किया जाय।

दिसम्बर 1926 के निबंध "गल्पांक का प्रस्ताव" में उन्होंने लिखा - "ऐसी परिस्थिति में गल्प ही एक ऐसी वस्तु है जो उपयोगिता मनोरंजकता और कम समय लेने में सिनेमा से टक्कर ले सकती है।"[13]

"प्रेमचंद ने उपन्यास और कहानी कला दोनों को पश्चिम से आयातित माना है, इसीलिए वह कथा के वर्तमान ढाँचे से असंतुष्ट हैं क्योंकि उससे भारतीय संस्कृति की आत्मा बाँधित होती है।"[14] "कहानी कला" नामक अपने तीन अलग-अलग निबंधों में उन्होंने कहानी कला पर विशद प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि - "हम कहानी ऐसी चाहते हैं, वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाए, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अंत तक उसे मुग्ध किए रहे और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताजगी हो, कुछ विकास हो और इसके साथ कुछ तत्त्व भी हो। यह सत्य है कि हम कहानी से उपदेश नहीं चाहते, किंतु वही कहानी सफल होती है जिसमें इन दोनों में से मनोरंजन और मानसिक तृप्ति में से एक आवश्यक तत्त्व उपलब्ध हो। सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हो, हम चाहते हैं कि पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करें।"[15]

भाषा के विषय में प्रेमचंद का दृष्टिकोण राष्ट्रीय था। वह एक राष्ट्रीय भाषा हिन्दुस्तानी की आवश्यकता महसूस करते थे। अपने अनेक लंबे लिखित भाषणों (लेखों) में उन्होंने इसे सतर्क सिद्ध किया है। आरम्भ से ही वह हिन्दुस्तानी की ओर संकेत करते रहे किंतु बाद के अनेक भाषणों और स्वतंत्र लेखों में इस समस्या की जोरदार वकालत की। "शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध

हिन्दू राष्ट्र होता तो उसकी भाषा शुद्ध होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियाँ मौजूद हैं - हमारी भाषा भी व्यापक होगी।"[16]

1936 के आर्य समाज के आर्य भाषा सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर अपने लेखबद्ध विस्तृत भाषण में उन्होंने हिन्दी-उर्दू एकता की जोरदार अपील की और इसे ही राष्ट्रीय भाषा की समस्या हल होने की एकमात्र दलील बताई। राष्ट्रीय भाषा एक होने से राष्ट्रीयता की भावना तुरंत आएगी। उनके पत्र 'हंस' का भी यही उद्देश्य था। एक अन्य निबंध "उर्दू-हिन्दी और हिन्दुस्तानी" में उन्होंने यही तथ्य प्रस्तुत किया।"[17]

पत्र व्यक्ति के व्यक्तित्व का आईना होता है। विचारपूर्ण लेखन का यह सशक्त केंद्र-बिन्दु है जहाँ से व्यक्तित्व के फैलाव को नापा जा सकता है। "आत्मीयता से लिखे गए पत्रों में हृदयगत सारी गुप्त और बाह्य परिस्थितियों का खुलासा होता है।"[18] जिन बातों व रहस्यों को रचनात्मक लेखन में लिखना असंभव होता है और लिखा भी नहीं जा सकता, उन बातों और रहस्यों को व्यक्ति आत्मीय को लिखे गए पत्रों में जाने और अनजाने में प्रकट कर देता है क्योंकि पत्र लिखते समय साहित्य-सृजन जैसी कोई प्रतिबद्धता और सजगता नहीं रहती, उस समय उसके समक्ष व्यक्ति की भावनाएँ होती हैं और उसका आत्मीय। जिसे वह अपने दैनिक सुख-दुःख, परिस्थितियों, योजनाओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं को बड़ी ईमानदारी से सहभागी मानकर वर्णित करता है। शायद उसे यह भान भी नहीं रहता कि ये पत्र और विचार किसी दूसरे तक भी पहुँच सकते हैं। पत्र लिखकर हम एक दूसरे से अपनी चिंताओं को बाँट सकते हैं। इसलिए पत्र को मानव व्यक्तित्व का दर्पण माना जाता है जिसमें उसकी संपूर्ण छवि प्रतिबिम्बित होती है।

प्रेमचंद ने सबसे अधिक पत्र अपने परम आत्मीय "ज़माना" सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम को लिखे हैं। अभी तक सबसे पुराना पत्र 18 मार्च 1910 ईस्वी का ही प्राप्त हुआ है किन्तु इससे पहले भी बहुत से पत्र लिखे गए होंगे। क्योंकि 1906 में ही वह "जमाना" से संबद्ध हुए थे। इन पत्रों के आधार पर उनके व्यक्तित्व के स्याह और सफेद दोनों पक्षों को आसानी से समझा जा सकता है। एक बात तो सबसे अधिक उभरती है, वह है उनके धनलिप्सा के लिए साहित्य सृजन की। वह आजादी को अपने तक ही सीमित रखना चाहते थे; बच्चों को

व्यापार में लगाकर धन कमाने की मान्यता उनके देश-प्रेम की लम्बी दलील पर एक प्रश्न चिह्न है। उनके हर्ष, विषाद, प्रेम, व्यापार, खानदानी, मसलों, लेखन छपाई और पारिश्रमिक, दर्शन, राजनीतिक लगाव, धनप्राप्ति के लिए अनेक पुस्तकों के सृजन आदि की स्वच्छ छवि इन पत्रों से उजागर होती है। अमृतराय ने इन पत्रों के आधार पर ही उनका जीवन-चरित्र लिखा है किंतु उनके व्यक्तित्व के स्याह पक्ष को उन्होंने बड़ी खूबी से दबा दिया है। ये पत्र प्रेमचंद के व्यक्तित्व के स्याह पक्ष को भी उजागर करने के गवाह और प्रमाण हैं।

"हिन्दी में कई साहित्यसेवी अच्छे पत्र-लेखक हो गए हैं। उन सबके पत्रों के संग्रह का यदि शीघ्र उद्योग न हुआ, तो जैसे आत्मकथा और संस्मरण न लिखवाने से स्वर्गीय वयोवृद्धों के साथ साहित्यिक-परम्परा का इतिहास लुप्त हो गया, वैसे ही कुछ दिनों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े पत्र-साहित्य का भी लोप हो जाएगा।"[19] हमारी असावधानी से अब तक असंख्य अमूल्य पत्र नष्ट हो चुके। अब भी यदि प्रयत्न किया जाय, तो संग्रहणीय सामग्री मिल सकती है।

जो मौलिक साहित्यिक पत्र अब तक पत्र-पत्रिकाओं में जहाँ-तहाँ छप चुके हैं, उनका भी क्रमबद्ध संग्रह निकल जाय, तो अनेक ज्ञातव्य साहित्यिक बातें प्रकाश में आ सकती हैं। प्रकाशित होने के पहले, पत्रों का चुनाव साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से होना आवश्यक है।

पत्रों के माध्यम से लेखक की स्वाभाविक मनोस्थिति के लेखन शैली के दर्शन होते हैं। चिट्ठियों में कभी-कभी ऐसी गूढ़ बातें होती हैं, जिनका पता लेखों के भाषण और पुस्तकों से नहीं लगता। यदि कुछ मूल पत्रों के ब्लॉक बनाकर छापे जाएँ तो लेखक की हस्तलिपि भी युगों तक सुरक्षित रह सकती है। "आशा है कि हिन्दी का पत्र-साहित्य आगे आने वाले कुछ वर्षों में बहुत संपन्न हो जाएगा। हिन्दी पाठकों में भी पत्र-साहित्य पढ़ने की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ रही है। धीरे-धीरे प्रकाशक भी इसकी उपयोगिता समझने लगे हैं। पूँजीदार प्रकाशक यदि इस दिशा में कदम आगे बढ़ाए, तो हिन्दी पाठकों में एक नई रुचि पैदा होगी। बहुत से साहित्यिक भी अपनी चिट्ठियों की रक्षा नहीं करते। लेखकों को भी साहित्यिक पत्रों के संग्रह में दत्तचित्त होना चाहिए।"[20]

कहने का तात्पर्य यह है कि इन पत्रों के माध्यम से प्रेमचंद के व्यक्तित्व का सही चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है, जो अलग से ही चर्चा और शोध का विषय हैं। इस पर स्वतंत्र शोध करने पर उनका संपूर्ण व्यक्तित्व अपने मौलिक और भिन्न रूप से सामने आएगा और जहाँ तक मैं समझती हूँ कि इस मुद्दे पर उनके विचारात्मक और साहित्यगत फासले को भी देख सकते हैं यद्यपि यहाँ यह भी गुंजाइश है कि लेखक मूलतः एक मनुष्य ही होता है, अतः उसके जीवन संघर्षों और आंतरिक बनावट व प्रकृति को रचनात्मकता के साथ बलपूर्वक जोड़कर नहीं घसीटा जाना चाहिए।

दलित प्रश्न

प्रेमचंद का साहित्य इतना व्यापक और विशाल है कि उनके द्वारा समाज के हर पहलुओं पर उनकी दृष्टि जाती है, वे दलित विमर्श के भी हिमायती हैं। उन्होंने दलितों को समाज में स्थान दिलाने का भरसक प्रयास किया।

"भारतीय जीवन में 'जाति' के अस्तित्व ने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि जीवन को जिस तरह प्रभावित किया है, वह किसी से भी छिपा नहीं है। साहित्य भी उससे अछूता नहीं रहा है। 'जाति' की साहित्य में सिर्फ एक हथियार की तरह ही नहीं, बल्कि 'वर्चस्व' स्थापित करने के लिए भी इस्तेमाल किया गया। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है, कबीर और रैदास के बाद लगभग 600 साल के हिन्दी-साहित्य में किसी भी दलित रचनाकार का कहीं भी जिक्र न आना।"[21] प्रेमचंद के दलित-प्रश्न के संदर्भ मूल्यांकन करने से पहले उस दौर (1920-1936) की दलित समस्याओं पर राजनीतिज्ञों की सोच, सामाजिक मान्यताओं, दृष्टिकोण, विद्वानों लेखको की धारणाओं, विचारों आदि को जानना बहुत ही जरूरी है। इसी दौर में, स्वतंत्रता आंदोलन, नवजागरण, आर्य समाज, गाँधी जी, डा. भीमराव आम्बेडकर आदि के आंदोलन अपने शिखर पर थे। हिन्दी-साहित्य में यही काल छायावाद के नाम से जाना जाता है। प्रेमचंद का समूचा रचनाकर्म इसी दौर का है। यह काल गहरी उथल-पुथल से भरा हुआ था। इसी समय मजदूर संघ ने अपनी ताकत का भरपूर परिचय दिया था। हड़तालों का ऐसा सिलसिला शुरू हुआ जो इससे पूर्व भारत में दिसम्बर 1918 में बम्बई की मिलों में हड़ताल शुरू हुई थी और 1919 तक एक लाख से ज्यादा मजदूर इसमें शामिल हो चुके थे। 1919 के शुरू में ही रोलैट ऐक्ट पेश किया गया था और मार्च में इसे लागू भी कर दिया गया। मार्च-अप्रैल में गाँधी जी के आह्वान पर इस ऐक्ट के विरोध में लोग संघर्ष में कूद पड़े थे। इसी दौर में दलित समस्या पर लोगों का ध्यान गया था। डा. आम्बेडकर का आंदोलन भारतीय राजनीति का प्रमुख हिस्सा बनकर उभरा था।

डा. आम्बेडकर के आर्विभाव ने मूक दलितों को वाणी दी थी। हजारों वर्षों का शोषण और सामाजिक उत्पीड़न, दमन के खिलाफ दलितों ने अपनी आवाज को उठाई थी। महाराष्ट्र में डा. आम्बेडकर का संघर्ष दलितों में एक नई चेतना जगाने में सफल हुआ था। उत्तर-प्रदेश में अछूतानंद सक्रिय रूप से विद्यमान थे।

लेकिन दलितों के इस मुक्ति-संघर्ष को हिन्दू अलगाववादी नजरिए से देख रहे थे। लाला लाजपतराय जैसे नेता भी दलित आंदोलन को संदेह की दृष्टि से देख रहे थे। लाला लाजपत राय का कहना था, "नौकरशाही के सहानुभूति के पात्र के रूप में अछूत एक नई खोज है - भारतीयों की स्वराज की कामना के विरुद्ध एक हथियार के रूप में अछूत कितना बहुमूल्य है।"

उपर्युक्त कथन से जो आशय निकलता है वह कोई नया नहीं है। जब भी दलितों ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया, उन पर उसी तरह के आरोप लगते रहे हैं, क्योंकि दलितों का शोषण करना, उन्हें मानवीय हकों से वंचित कराना एक धार्मिक साजिश है। इसीलिए दलितों का एक बड़ा समुदाय जानवरों से भी बेकार जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ा। उस दौर के नेता भी दलितों के इस आंदोलन को राजनीतिक नजरिए से देख रहे थे। वर्णवादी संस्कार ने उनकी सोच और सामर्थ्य का दायरा सीमित कर दिया था। और तो और एक तरफ गाँधी जी अछूतोंद्धार की घोषणा कर रहे थे और सुधारवादी आंदोलन चला रहे थे।

"सन् 1931 की गोलमेज कांफ्रेन्स में डॉ. आम्बेडकर ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचन की माँग की तो गाँधी जी ने इसका विरोध किया। सिर्फ विरोध ही नहीं किया बल्कि आमरण अनशन भी किया। 17 अगस्त 1932 को रैमजे मैकडानल्ड ने अपना निर्णय दिया, जिसमें न केवल मुसलमानों के लिए पृथक-पृथक चुनाव क्षेत्रों तथा अन्य सुरक्षाओं का समर्थन किया, बल्कि दलितों को एक ईकाई के रूप में मान्यता दी गई थी। इसी के विरोध में गाँधी जी ने यरवदा जेल (पूना) में 20 सितम्बर 1932 को आमरण अनशन शुरू किया। उनकी स्थिति जब ज्यादा बिगड़ने लगी तो अनेकों हिन्दू नेताओं ने डॉ. आम्बेडकर पर दबाव डालना शुरू किया।"[22] अन्ततः गाँधी जी की प्राणों की कीमत पर डॉ. आम्बेडकर को झुकना पड़ा और अपनी माँगों से वह पीछे हट गए। एक तरह से यदि देखा जाए तो डॉ. आम्बेडकर और दलितों के लिए यह सब त्रासदी था। हिन्दू नेताओं और डॉ. आम्बेडकर के बीच एक समझौता हुआ, जिसे 'पूना पैक्ट' के नाम से जाना जाता है। इसके तहत यह निर्धारित किया गया कि दलित सामान्य चुनाव क्षेत्र के अंग रहेंगे, लेकिन विधान सभाओं में उन्हें अधिक सीटें दी गई और यह स्वीकार किया गया कि हिन्दू सीटों के 'कोटे' से वे अपने आरक्षित सीटों के लिए निर्वाचन- मण्डलों के माध्यम से सदस्य चुन लें। सरकार ने भी इस समझौते को स्वीकार कर लिया था।

इस समझौते से दलित अपनी हार मान रहे थे तो दूसरी तरफ हिन्दू वर्ग के लिए यह जीत थी। उन्होंने इस बात को भी बहुत प्रचार किया कि स्वतंत्रता आंदोलन को कमजोर करने के लिए दलितों का प्रयोग किया जा रहा है। दलित-संघर्ष को हमेशा हिन्दू-समाज इसी प्रकार के नकारात्मक नजरिए से देख रहा था।

जब भी दलितों ने अपने अधिकारों की माँग की उन पर उसी तरह से आरोप लगाए जाते रहें। उनके दुःख-दर्द, उनकी पीड़ाओं और उनके अपमानों को हमेशा ही समाज में अपमानजनक दृष्टि से ही देखा जाने लगा। यहाँ तक की वामपंथी भी डॉ. आम्बेडकर को साम्राज्यवादियों का पिट्ठू कह रहे थे। दलितों का शोषण-दमन उनके सर्वहारा का शोषण-दमन नहीं था। उनकी वर्ग-चेतना में 'वर्ण चेतना' पर कोई चर्चा नहीं थी। डॉ. आम्बेडकर का जनसंघर्ष जो दलितों की मुक्ति का संघर्ष था, वामपंथियों की दृष्टि में साम्राज्यवाद को सुदृढ़ करने का संघर्ष था। इसके पीछे तथा-कथित वे वामपंथी थे, जो जन्मना ब्राह्मण थे, क्योंकि उनके संस्कारों ने उन्हें दलित के प्रति घोर उपेक्षा और प्रताड़ना की ही सीख दी थी। वामपंथ का क्रांति विचार भी उन्हें वर्ण-मुक्त नहीं कर पाया था।

"यही स्थिति उस दौर के रचनाकारों की थी। उनमें भी वही उपरोक्त भाव मौजूद था। उनकी चिंता में महत्त्वपूर्ण था कि दलित धर्म-परिवर्तन न करें, इस कारण से हिन्दू-धर्म का समाज कमजोर होगा। 'चाँद' का अछूतांक या फिर सरस्वती में प्रकाशित कहानियाँ, नाटक, कविताएँ इन सभी तथ्यों का प्रमाण हैं।"[23] जनगणना में दलितों का अलग ईकाई मानने का हिन्दुओं ने विरोध किया था लेकिन जब वे एक मनुष्य के रूप में अपने आप को पहचानने की गुहार करते थे या उन तालाबों में से एक अंजुलि पानी पीना चाहते थे, जहाँ जानवर या अन्य मवेशी पानी तो पी सकते हैं लेकिन दलितों के पानी पीना वर्जित था। उन्हें वहाँ से मार-पीटकर, दुत्कार, फटकार के साथ भगा दिया जाता था। उन्हें हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश निषेध था, उन्हें स्कूलों में भी प्रवेश से वंचित किया जाता था तो ऐसे समय में दलित अपने अधिकारों की बात या संघर्ष करें भी तो कैसे करें यह तो उनके सामने सबसे बड़ी त्रासदी थी। आज भी समाज में इस तरह का थोड़ा बहुत अंश अवश्य ही कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में देखने को अवश्य मिल जाएगा।

प्रेमचंद के कथा साहित्य में दलितों के प्रति ऐसे ही दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। उनके ऊपर लोग संदेह की दृष्टि से देखते हैं, उन पर विश्वास करने के बजाय उन्हें एक इस्तेमाल की जाने वाली वस्तु मात्र ही समझा जाता है। दलितों की पीड़ा, दुःख-दर्द, उनकी चेतना, उनका संघर्ष साहित्य में देखने को मिलता है। तब से लेकर आज तक उनका संघर्ष निरंतर चलता आ रहा है।

वैसे तो प्रेमचंद गाँधी-युग के लेखक ठहरते हैं। "किन्तु 'कर्मभूमि' से पता चलता है कि प्रेमचंद अछूतों के लिए गाँधी जी से अधिक दर्द रखते हैं।"[24] "उन्होंने मानवता की पुकार सुनी है न कि चुनाव की जरूरतों की पुकार। उन्होंने हरिजनों की समस्या का, शोषण का प्राचीनतम परंपरा का अंत करने के लिए विवेचन और

चित्रण किया।"[25] हलुआ-पूड़ी खाने वाले, चिथड़े पहनने वालों से नफरत करने वाले मंदिर के भगवान के बारे में प्रेमचंद ने जो शब्द कहे है वे 'क्लासिकल' और 'अमर' हैं।[26]

आज दलितों के प्रश्नों का जोर-शोर से चारों दिशाओं में इसकी चर्चाएँ हो रही हैं। कई विद्वर्जन दलित-लेखकों ने अपनी आत्मकथा जीवनी तथा उपन्यास लिख डाला है। इन दलित लेखकों ने अपने विचारों से पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से कई पन्नें भी रंगे। संपूर्ण दलित-साहित्य को पढ़कर इस निष्कर्ष पर हम पहुँच सकते हैं कि - सभी लोगों ने मिलकर उन पर अत्याचार किया है, उन्हें दबाया, कुचला तथा मानसिक एवं शारीरिक रूप से उनका शोषण भी किया गया। विशेषकर इनके निशाने पर सवर्ण ही रहें, मानों सवर्ण जन्म लेते ही है इनकी यथाशक्ति बनाए रखने के लिए। कहने के प्रवाह में ये किसी भी सवर्ण को नहीं बख्शते, भले ही उसका जीवन इनकी वकालत करते ही कट गई हो। "सारे सवर्ण दलित-विरोधी हैं।" इसी का प्रचार ये करते हैं। यहाँ तक कि प्रेमचंद को भी इसी लाग-लपेट में ले लिया गया है। उन प्रेमचंद को जो कि अपने साहित्य में इन्हीं किसान, मजदूर, स्त्री और दलितों की आवाज को बुलंद करते रहे हैं, दलितों का निरंतर हौसला बढ़ाते रहे फिर भी हमारे इन 'सामंत के मुन्शी' को भी नहीं बख्शा। आज के परिप्रेक्ष्य में इनके साहित्य को ही दलित-विरोधी कहा जा रहा है। यहाँ तक कि जातिसूचक शब्द प्रयोग करने के कारण उनका उपन्यास 'रँगभूमि' की कई प्रतियाँ दिल्ली में सार्वजनिक रूप से जलाई गईं। वह सूरदास, जिसको प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में प्रधान नायक चुना, उसके चरित्र को गाँधी के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया, उस दलित सूरदास को उसकी जाति 'चमार' से संबोधित करने के कारण ही प्रेमचंद दलित-विरोधी हो गए। इसके पीछे क्या मंशा रही होगी, यह इन दलित लेखकों ने जानना भी नहीं चाहा। ऐसा इसलिए है क्योंकि ये दलित सवर्णों के प्रति नकारात्मक सोच से ग्रसित हैं।

प्रेमचंद मूलतः परिवर्तन परिवर्तनवादी थे। समाज का जो आर्थिक ढाँचा उस समय था, प्रेमचंद उस ढाँचे को बिल्कुल ही बदलना चाहते थे। उनका मानना यह था कि बिना इसके बदले कुछ भी विकास नहीं हो सकता है। इस भौतिकतावादी समाज में केवल दो ही वर्ग हैं - एक तरफ अमीर वर्ग है तो दूसरी तरफ केवल गरीब-किसान और मजदूर वर्ग। सामाजिक समता लाने के लिए इन्हीं दलितों और किसानों को अमीर वर्ग से संघर्ष करना पड़ेगा। इस संघर्ष में जाति-धर्म आदि का कोई स्थान नहीं है। गरीब वर्ग चाहे वह किसी भी जाति-धर्म का हो, उसे पूँजीपतियों के शोषण से मुक्ति के लिए एकजुट होना होगा। तभी हमें वास्तविक

स्वतंत्रता प्राप्त हो पाएगी। प्रेमचंद के कथा-साहित्य में हम इस स्थिति को देख सकते हैं।

अछूतों यानि दलित वर्ग के विषय में प्रेमचंद की दृष्टि स्पष्ट है। 'हमारा कर्तव्य' शीर्षक लेख में उन्होंने कहा हैं - "यह युग प्रकाश का युग है। इसमें अब अंधकार नहीं रह सकता। वह दिन अब नहीं रहे, जब धर्म के नाम पर लोग काशी करवट किया करते थे। अब विवशतावश युगधर्म के अनुसार ही चलना पड़ेगा। अछूत इसीलिए तो अछूत है कि वे जनसमाज के स्वास्थ्य के लिए उनके घरों की सफाई करते हैं, उनकी सेवा करते हैं। उनमें और अछूतों में क्या अंतर है? जैसे वे एक मनुष्य हैं, अछूत भी उसी प्रकार से हैं। यदि अछूत उनके घर का मल-मूत्र साफ करते हैं, तो वे भी तो इस कार्य से वंचित हैं। ---------- फिर क्यों इस दुर्विचार का पोषण किया जाता है, क्यों अपने ही हाथों अपने पैरों को काटने की कोशिश की जाती है? ------------- एक स्वार्थ ही इसका कारण है। पर ध्यान रहे, यह इस समय का स्वार्थ, वर्ष-दो वर्ष चाहे उनकी छाती को ठण्डा भले ही कर दे, पर आगे वह पुरानी-से-पुरानी दृढ़-से-दृढ़ बुनियाद को भी उखाड़ फेंकेंगा।" इस तथ्य से स्पष्ट है कि प्रेमचंद अछूतों को उनकी वर्तमान सामाजिक दशा से मुक्त कराना चाहते थे और उनके लिए समाज में बराबरी का स्थान चाहते थे। सदियों से चले आ रहे नियम के खिलाफ वे अछूतों के मंदिरों में प्रवेश के पक्ष में ही थे और इससे संबंधित उन्होंने कई लेखों को लिखा। 'कर्मभूमि' उपन्यास में मन्दिर प्रवेश आंदोलन इसी का प्रमाण है।

प्रेमचंद अपने मूल मुद्दे साम्राज्यवाद और सामंतवाद के खिलाफ लड़ाई जाति को अलग-अलग करके नहीं लड़ते हैं। उनके अनुसार समस्याएँ सबकी एक है। साम्राज्यवादी सामंती व्यवस्था ही उनके पिछड़ेपन का कारण है। इस व्यवस्था को मिलकर ही ध्वस्त किया जा सकता है। कुछ जातियों को ही चिन्हित कर केवल उनकी मुक्ति कामना उनका उद्देश्य नहीं था। उनकी पलटन में मनोहर, बलराज, कादिर, विलासी, होरी, कलिया, सिलिया, सूरदास, जोहरा, जालपा, देवीदीन आदि सभी हैं।

जिस अर्थ में आजकल के तथा-कथित दलित-प्रश्न के सिद्धांतकार दलित-प्रश्न को परिभाषित करते हैं, उस अर्थ में प्रेमचंद को दलित-प्रश्न के लेखक कम ही ठहरते हैं। उन्होंने जिस दलित शब्द का व्यवहार किया है वह आज के दलित-प्रश्नों से मेल नहीं खाता है। प्रेमचंद का मशहूर कथन है - "जो दलित हैं, पीड़ित हैं, वंचित हैं - चाहे वह व्यक्ति से हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज़ है।" प्रेमचंद की समूची चेतना की ओर अगर हम ध्यान दें तो स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उस समय वंचित मनुष्य के प्रति सहानुभूति की जो

लहर विश्व में फैली हुई थी, प्रेमचंद की चेतना उसी विश्वव्यापी चेतना का ही हिस्सा है। मार्क्सवाद में दो तरह की चेतना समाज में व्याप्त है। एक वे है जिनके पास सब कुछ है और दूसरे वे है जिनके पास कुछ भी नहीं है अर्थात् सबसे वंचित हैं। समाज की सामंती-सामाजिक संरचना से त्रस्त तथा पूँजीवाद के शासन की चक्की में पिसता हुआ सामान्य मनुष्य आर्थिक और सांस्कृतिक विपन्नता में मानव मूल्य-बोध खोता जा रहा था। लोगों के मन से दया, प्रेम, करुणा का भाव नष्ट होता जा रहा था। समाज में वंचितों की पलटन सी तैयार होती जा रही थी।

"प्रेमचंद, शरत, डा. आम्बेडकर, ज्योतिबा फूले, राहुल सांकृत्यायन, बुद्ध, मार्क्स, दया, पवार, बाबूराव बागूल, एलेक्स हेली, जेम्स वाल्डविन आदि के साहित्य ने मुझे एक ऐसी अनुभूति दी जो मेरी पीड़ा की अभिव्यक्ति बन गई। उनके साहित्य में जो जद्दोजहद थी वह सिर्फ मेरी नहीं पूरे शोषित की पीड़ा थी। उसके सरोकारों का एक अनवरत संघर्ष उनके साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है।"[27] हिन्दी आलोचना में एक वर्ग ऐसा भी है जो आज भी दलित-साहित्य के प्रति शंकाग्रस्त है। यह वर्ग उपदेशक की भूमिका में होता है और उन तमाम विमर्शों में अनदेखा करके बार-बार उन्हीं बातों को दोहराता है, जो गत वर्षों से चर्चा में है जिनमें लम्बी-लम्बी बहसें हो चुकी हैं। डा. पी. एन. सिंह कहते हैं - "बार-बार महसूस होता है कि दलित रचनाकारों और विमर्शकारों ने गाँधी जी और प्रेमचंद को उनके समय के संदर्भ में देखने-परखने की चेष्टा नहीं की। उन्होंने यह भी देखने-परखने का प्रयास नहीं किया है कि प्रेमचंद, नागार्जुन, निराला, अमृतलाल नागर, विवेकीराय, गिरिराज किशोर आदि लेखकों ने भी इस दिशा में काम किया है। मैंने जहाँ तक पढ़ा-समझा है, अभी तक हिन्दी कथा साहित्य में दलित के व्यक्तित्व का न विवेकीराय के 'बबूल' (1983) जैसा मार्मिक अंकन हुआ है और न ही प्रेमचंद के 'रंगभूमि' (1925) जैसा औदात्य निरुपण हुआ है। लेकिन दलित साहित्यकार भी बाबा साहेब की राजनीतिक रेटारिक में बँट गए हैं।"[28] यह सब देखकर प्रेमचंद ने पूँजीवादी समाज-व्यवस्था और सामंती समाज-व्यवस्था में पीड़ित वंचितों की कहानी को उजागर किया है। सदियों से चली आने वाली सामाजिक संरचना से संत्रस्त उपेक्षितों की कहानी उनके रचनात्मक-साहित्य में मिलती है, जिसे हम आज जाति-पाँति, भेदभाव के नाम से जानते हैं, तो दूसरी ओर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से उत्पन्न गरीबी और अमीरी के भँवरजाल में डूबते हुए वंचितों की कहानी भी वर्णित है। वंचितों की समस्या को प्रेमचंद ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा था। किसी समसामयिक राजनीतिक आवश्यकता या प्रतिक्रियावादी-दृष्टि से नहीं।

प्रेमचंद वंचितों के कथा-साहित्य को आर्थिक दृष्टि से जोड़कर देखने के पक्षधर थे। वे यह नहीं मानते थे कि जाति-व्यवस्था किसी एक जाति-विशेष की देन है। आजकल तो एक हवा सी चल पड़ी है हिन्दी-साहित्य में कि जो दलित है, वही सच्चा दलित-साहित्य लिख सकता है। इस तथ्य पर प्रेमचंद को बहुत भला-बुरा कहा गया। पर प्रेमचंद के दलित-प्रश्नों पर पुनरावलोकन बहुत ही आवश्यक हो गया है। व्यापकता की दृष्टि से देखने पर पता चलेगा कि प्रेमचंद का वंचित-चिंतन आज के संकुचित दलित-प्रश्न से कितना व्यापक और विशाल है।

प्रेमचंद कहते हैं कि -"हम स्वीकार करते हैं, शूद्रों के साथ हमने अन्याय किया है। हमने उन्हें जी भरकर रौंदा, कुचला, दला। इस अन्याय ने जिस हृदय को सबसे ज्यादा दुखी किया है, वह उसी तपस्वी का हृदय है, जिसने अपना जीवन दलित भाइयों की सेवा में ही व्यतीत किया है। आज वह देखता है कि उसके जीवन की सारी तपस्या, सारी साधना धूल में मिली जा रही है। उसने जिस राष्ट्रीय एकता का भवन खड़ा करने के लिए एक-एक कंकड़ जमा किया था, वह सारी सामग्री उसकी आखों के सामने बिखरी जा रही थी। मानों उसका जीवन ही निरर्थक हुआ जा रहा है। क्या हमारी ब्रिटिश सरकार उस वेदना का अनुभव कर सकती है। उस अन्याय के प्रायश्चित-स्वरूप वह क्या कुछ न करता, वह यहाँ तक राजी है कि दलितों के लिए शिक्षा और जायदाद की कोई शर्त न रखों, उनके हरेक बालिग स्त्री-पुरुष को निर्वाचन का अधिकार दे दों शेष हिन्दू-समाज के लिए निर्वाचन की जितनी कड़ी शर्ते चाहे लगा दो, पर अछूतों का अस्तित्व ही न रहेगा।"[29]

प्रेमचंद, गाँधी जी द्वारा हरिजनोद्धार के लिए किए जाने वाले प्रयासों के सबल समर्थक थे। गाँधी जी द्वारा इस दिशा में उठाए गए तमाम कदमों का उन्होंने स्वागत किया। इसलिए आश्चर्य नहीं कि अपने दलित संबंधी विचारों में उनके सर्वाधिक लेख महात्मा गाँधी का इस दिशा में किए गए प्रयासों से संबंधित है। उनके कई लेख, 'महान तप', 'महात्मा जी का उपवास', 'महात्मा जी का व्रत', 'मंदिर प्रवेश और हरिजन', 'महात्मा गाँधी फिर अनशन कर रहे हैं' आदि इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। प्रेमचंद सदियों से पददलित हरिजनों के संपूर्ण इतिहास पर दृष्टि रखते हैं और वर्तमान समय में बदलती हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इस स्थिति को सुधारना चाहते हैं। वह समय राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन का था। अंग्रेजी साम्राज्यवादी शक्तियाँ भार में चिरकाल तक शासन करने का सपना पाले हुए थीं और इसलिए उन्होंने अपने राजनीतिक पकड़ को और मजबूत करने के लिए तमाम हथकण्डे अपनाए। हिन्दू-मुसलमानों के बीच राग-द्वेष पैदा किया, छूत-अछूत की चिंगारी फैलाई, पृथक निर्वाचन की व्यवस्था कर

सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया और साथ-ही-साथ समाज में विपन्नता, दरिद्रता तथा सामाजिक पिछड़ापन लाने के लिए सामंती-प्रथा को प्रोत्साहित किया। प्रेमचंद इन सभी दुर्व्यवस्थाओं को देख रहे थे। यह राष्ट्र मुक्ति के लिए आवश्यक था, इन स्थितियों में सुधार। भारत के राजनीतिक नेता इस क्षेत्र में अपने ढंग से प्रयास कर रहे थे, प्रेमचंद अपने ढंग से। प्रेमचंद ने अपने विचारों और लेखन के माध्यम से इन सभी समस्याओं के समाधान हेतु अपनी व्यवस्था दी।

हरिजनों की समस्या के समाधान के लिए प्रेमचंद कई पक्षों पर विचार कर रहे हैं। मंदिरों में हरिजनों के प्रवेश की वकालत, आर्थिक-सभ्यता लाने की बात, पृथक निर्वाचन की व्यवस्था को समाप्त कर सम्मिलित-निर्वाचन की माँग आदि ऐसी बातें हैं, जिनके प्रचलित हो जाने से छूत-अछूत प्रश्न समाप्त हो जाएगा। प्रेमचंद अछूतोद्धार हेतु अपने तमाम प्रयासों में आर्थिक-साम्यता को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। उनका कहना है कि - "हरिजनों की समस्या केवल मंदिर-प्रवेश से हल होने वाली नहीं है। उस समस्या की आर्थिक बाधाएँ धार्मिक बाधाओं से कही, कठोर हैं। आज शिक्षित हिन्दू-समाज में ज्यादा-से-ज्यादा पाँच फ़ीसदी रोज़ाना मंदिर में पूजा करने जाते होंगे। ------ शिक्षित हरिजन भी मंदिर प्रवेश को महत्त्व नहीं देते। ----- असल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसा साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें उठाने में मदद दें। विद्यालयों में उनके लिए वजीफा करना चाहिए, नौकरियाँ देने में उनके साथ थोड़ी-सी रियायत करनी चाहिए। हमारे यहाँ के जमींदारों के हाथ में उनकी दशा सुधारने के बड़े-बड़े उपादान हैं। उन्हें घर बनाने के लिए काफ़ी जमीन देकर, उनसे बेगार लेना बंद करके, उनसे सज्जनता और भलमनसी का बरताव करके वे हरिजनों की बहुत कुछ कठिनाइयाँ दूर कर सकते हैं।

समय ही हर समस्या को अपने आप ही हल करता है, पर हिन्दू जाति अपने कर्तव्य से मुँह नहीं मोड़ सकती।"[30] प्रेमचंद ऐसा मानते थे कि पूरे समाज में आर्थिक समानता आ जाने पर छूत-अछूत, भेदभाव, हिन्दू-मुसलमान आदि समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जाएँगी। परन्तु यह तो एक क्रमिक प्रक्रिया ही है। मंदिर प्रवेश के प्रश्न पर प्रेमचंद ने अनेकों लेख लिख डाला हैं। - "हरिजनों के अपने देवता अलग हैं। मंदिर प्रवेश का अधिकार पाते ही वह अपने देवताओं को उठाकर दरिया में न फेंक देंगे। हरिजनों के मंदिर-प्रवेश के शत्रु अधिकांशतः वे लोग हैं, जो उनकी दरिद्रता को उपहास की, मजाक की वस्तु समझते हैं, जो यह जानते हैं कि इन दरिद्रों के मंदिर जाने न जाने से विशेष लाभ या हानि नहीं होती है। महात्मा जी के उपवास से देश में हरिजन आंदोलन की बाढ़-सी आ गई है पर हरिजन सेवा का कार्य अवश्य बढ़ गया है। कार्यकर्ता वहीं पुराने हैं और हमें खेद के साथ कहना

पड़ता है कि महात्मा जी के व्रत के दिनों में भी हरिजनों के लिए मंदिरों का द्वार खुलने की संख्या नगण्य थी।"[31]

प्रेमचंद आर्थिक असमानता को प्रमुख समस्या मानते हैं, परन्तु तत्कालीन स्थिति पर तुरन्त नियंत्रण हेतु वे मंदिर का प्रवेश के लिए अधिकार देना आवश्यक समझते हैं, ताकि भेदभाव की स्थिति पर कुछ काबू में किया जा सके। सवर्ण हिन्दुओं द्वारा हरिजनों को मंदिर में प्रवेश न देने के प्रश्न हरिजन अपना अपमान समझते हैं और यहीं गाँठ उन्हें सवर्ण हिन्दुओं से अलग जाति मानने की ओर बढ़ाए जाती है। अंग्रेज इस स्थिति का भरपूर फायदा उठाते हुए उन्हें एक दूसरे के खिलाफ भड़काते हैं। प्रेमचंद इस स्थिति को घातक मानते हैं और राष्ट्र-उत्थान हेतु इस भेद को समाप्त करने के पक्षपाती हैं।

प्रेमचंद के शब्दों में - "मंदिरों के द्वार खोलने के विषय में जनता की ओर से तत्परता के अभाव का जो कुछ भी कारण हो, जो हर लोग हर एक प्रकार के छुआछूत को दूर करना चाहते हैं, उनको किसी प्रभावशाली रूप में यह दिखलाना पड़ेगा कि उनका उन मंदिरों के साथ कोई संपर्क नहीं हैं, जो अपना द्वार हरिजनों के लिए बंद रखते हैं। महात्मा जी ने स्वयं इस विचार पर जोर दिया है। महात्मा जी ने हरिजन-सेवक-समिति के इस विचार को स्वीकार किया है कि वे इस बात को भी अपने छुआछूत-निवारक कार्यक्रम का एक अंग बना लें। यह अवश्य है कि इस प्रकार का कोई कार्य करने से पहले पूरी तरह से सचेत कर देना चाहिए। ऐसे कार्य का अर्थ होगा मंदिर का बहिष्कार, पर इस बहिष्कार से लोकेच्छा के प्रवाह का पता चलेगा। विशेष कर उस स्थान के लोगों की इच्छा का पता चलेगा, जहाँ अधिकांश मंदिर जाने वाले यह अनुभव करते है कि ऐसे मंदिर में दर्शनार्थ जाना अधार्मिक है जो उसी मूर्ति के पुजारी हरिजनों को दर्शनार्थ नही जाने देते।"[32]

सम्मिलित निर्वाचन के संबंध में प्रेमचंद का कहना है - "दलितों के उद्धार का सबसे उत्तम साधन है - सम्मिलित निर्वाचन, यही उनके उत्थान का मूलमंत्र है। उनमें शिक्षा प्रचार होते अभी बहुत दिन लगेंगे। उनमें कालगति से जो कुसंस्कार आ गए हैं, उनके परिशोध में भी समय लेगा। हिन्दू जाति में न्याय-भावना को व्यापक रूप में जगाने में भी बहुत दिन लगेंगे। ---- निकटतम मार्ग संयुक्त निर्वाचन ही है, जिसके सम्मुख यह भेद-भाव, यह भिन्नता यह गर्व ठहर नहीं सकता। उस निर्वाचन में ऐसे अनुदार व्यक्तियों के लिए स्थान नहीं है, जिन पर दलित समाज को विश्वास न हो, जिनसे इसे भलाई की आशा न हो।"[33] स्पष्ट है कि मन्दिरों में प्रवेश की भाँति ही उन्होंने दलितों के तत्कालीन उद्धार हेतु सम्मिलित निर्वाचन को भी एक साधन स्वीकार किया है। पृथक निर्वाचन

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY

सांप्रदायिकता की वृद्धि करती है और इसमें अपने-अपने जाति-कौम को हित-साधन ही सिर उठाए खड़ा रहता है। यह स्थिति राष्ट्रीयता की भावना जगाने में असमर्थ है। बिना राष्ट्रीयता के 'स्वराज' की कल्पना करना निरर्थक है। प्रेमचंद 'स्वराज्य' प्राप्ति में पृथक निर्वाचिक को बाधक समझते हैं।

समाज में इसी एकता तथा साम्य-भाव को बनाए रखना प्रेमचंद राष्ट्रीयता की पहली शर्त मानते हैं। इस साम्यभाव को बनाए रखकर ही हम अपने मूल उद्देश्य 'स्वराज्य' की प्राप्ति कर सकते हैं, साम्प्रदायिकता को नष्ट कर सकते हैं। ऐसा करके हम अपने उन अछूत भाइयों में आत्मविश्वास पैदा कर सकते हैं, जिससे वे भी अपने अस्तित्व को पहचानने और परिस्थितियों का सामना करते हुए हमारे साथ कंधा-से-कंधा मिलाकर चले। यह एकता बहुत ही आवश्यक है। प्रेमचंद का मानना हैं - "राष्ट्रीयता की पहली शर्त है, समाज में साम्य भाव का दृढ़ होना। इसके बिना राष्ट्रीयता की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। जब तक यहाँ एक दल, समाज की भक्ति, श्रद्धा, अज्ञान और अंधविश्वास से अपना उल्लू सीधा करने के लिए बना रहेगा, तब तक हिन्दू समाज, कभी सचेत न होगा और यह दल दस-पाँच लाख व्यक्तियों का नहीं है, असंख्य है। उसका उद्यम यही है कि वह हिन्दू जाति को अज्ञान की बेड़ियों में जकड़े रखे, जिसमें वह जरा भी चूँ न कर सके। मानों आसुरी शक्तियों ने अंधकार और अज्ञान का प्रचार करने के लिए स्वयं सेवकों की यह अनगिनत सेना नियत कर रखी है। अगर हिन्दू समाज को पृथ्वी से मिट नहीं जाना है, तो उसे इस अंधकार-शासन को मिटाना होगा। हम नहीं समझते, आज कोई भी विचारवान हिन्दू ऐसा है, जो इस टकेपंथी दल को चिरायु देखना चाहता हो सिवाय उन लोगों के जो स्वयं उस दल में हैं और चखौतियाँ कर रहे हैं।"[34]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि प्रेमचंद ने राष्ट्रीयता की प्राप्ति के लिए तथा साम्य-भाव स्थापना हेतु जिस 'दल' की चर्चा की है, वह है हिन्दू-समाज की संकीर्णता का प्रसार करने वाले, हिन्दू धार्मिक-क्रियाओं तथा सामाजिक-क्रियाओं को अपनी बपौती समझने वाले पाण्डे, पुरोहितों का वर्ग। प्रेमचंद इन सभी को समाज से मुक्ति दिलाना चाहते थे। कारण ये दलितों के अधिकार आंदोलन की माँग में तथा साम्यभाव की स्थापना में बाधक थे।

प्रेमचंद समय की गति से होने वाले परिवर्तन को बड़ी शिद्दत से महसूस कर रहे थे। रूस में हुए समाजवादी क्रांति का प्रभाव वे सारे विश्व पर जल्द से जल्द देखना चाहते थे, रूसी समाजवादी क्रांति का उन्होंने समर्थन किया और यही कारण है कि - वे कहते थे कि यह जो भेदभाव, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूत-अछूत आदि भावनाएँ अपने वीभत्स रूप में व्याप्त है, इसका जीवन लम्बा नहीं है।

जल्द ही प्रकाश का युग आएगा। प्रेमचंद इस छूत-अछूत व्यवस्था के समाधान की शुरूआत व्यक्ति से चाहते हैं। गाँधीवादी समाधान देते हैं अर्थात् व्यक्ति से आरम्भ करके समाज सुधार की कल्पना। वे कहते हैं - "एक-एक व्यक्ति यदि सचमुच अपने हृदय से अछूतपन की थोथी भावना निकाल देगा, तो वह सबके हृदय से धीरे-धीरे दूर हो जाएगी-इसमें संदेह नहीं।"[35]

मैंने प्रेमचंद के अछूत संबंधी समाज के रवैये पर, अछूतोद्धार के लिए किए जाने वाले प्रयासों पर तथा अछूतोद्धार हेतु उनके द्वारा दिए गए सुझावों की बात की है। इसे हम प्रेमचंद का सिद्धांत पक्ष कह सकते हैं। प्रेमचंद जिस समाज की परिकल्पना को संजोए बैठे हुए थे वह किस प्रकार से अपना स्वरूप प्राप्त कर सकता है, इसका भी उन्होंने मार्ग सुझाया है। उस समय के समाज की जो वास्तविक दशा थी, प्रेमचंद ने उसे अपने कथानक का आधार बनाया है। यही कारण है कि उस समय जितने भी ज्वलंत मुद्दे थे और जिनमें सुधार की आवश्यकता थी, जैसे- छूत-अछूत समस्या, अछूतों के मंदिर प्रवेश का प्रश्न, अछूतों के अपने अधिकारों की माँग, प्रजा का उनके विरुद्ध उबलता-उफनता क्रोध, हिन्दू-मुसलमान संबंध, किसान, मजदूर - प्रेमचंद इन सभी मुद्दों को उठाते हैं और आगे कौन सा समाज बनने जा रहा है, इसका संकेत भी देते हैं। इस तरह यदि प्रेमचंद के सिद्धांतों को देखें और इसका उनके रचनात्मक साहित्य से मेल बैठाए तो उसमें तारतम्यता मिलती है।

इस संबंध में प्रेमचंद कहते हैं - "हमारा आदर्श सदैव यह रहा है कि जहाँ धूर्तता और पाखण्ड और सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखों, उसको समाज के सामने रखों, चाहे हिन्दू हो, पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो या कोई हो। इसलिए आपको हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे और गरीब किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवा का भाव पाया है और यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि जब तक यह सामुदायिकता, सांप्रदायिकता और यह अंधविश्वास हममें से दूर न होगा, जब तक समाज को पाखण्ड से मुक्त न कर लेंगे, तब तक हमारा उद्धार न होगा। हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि सामाजिक जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं घातक है।"[36]

प्रेमचंद ने भारतीय समाज में रहने वाले अछूतों-दलितों को उनके यथार्थ रूप में चित्रित किया है। सामंती समाज द्वारा उनका शोषण, विभिन्न प्रकार से उनका मानसिक और शारीरिक उत्पीड़न, उन पर लगाए गए तमाम सामाजिक प्रतिबंध,

उनके लिए सबसे निकृष्ट कार्य नियत करना और सबसे अंत में इस व्यवस्था में पिस रहे इन अछूतों का व्यवस्था के प्रति विरोध - प्रेमचंद इन सभी को अपने कथानक में स्थान देते हैं। प्रेमचंद के जिन उपन्यासों तथा कहानियों में दलित-पात्र अपने पूरे रंग-ढ़ग से उपस्थित हुए हैं, वे हैं - रंगभूमि, कर्मभूमि, गोदान, कफन, सद्गति, ठाकुर का कुँआ। 'रंगभूमि' एक राजनीतिक उपन्यास माना जाता है। इसका प्रमुख पात्र सूरदास जो जाति का चमार है। सूरदास पूरी तरह अकेला 'धरम के बल पर' लड़ता है। इस संघर्ष में किसी की उसे आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसका मानना है कि जिधर न्याय है, उधर किसी के मदद की जरूरत नहीं। वह दिन भर भीख माँगता हैं, मिठुआ का पालन-पोषण करता है और रात में ठाकुर जी मंदिर के चबूतरे पर कीर्तनियों के साथ कीर्तन करता है। इन्हीं कामों में वह अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। सूरदास का 'धरम' है - अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना। वह कहता है कि जब भी कोई उसकी किसी चीज पर हाथ बढ़ाए तो उसका हाथ पकड़ लेना, उसके लिए लड़ना और प्राण तक दे देना उसका धरम है। फिर चीज हाथ आए या न आए, इससे मतलब नहीं है। मतलब है तो लड़ने से, धरम की लड़ाई लड़ना। इस प्रकार जीत या हार की चिंता किए बगैर अन्याय का पूरी शक्ति से प्रतिकार करना सूरदास का धर्म है। वह संहार या धर्म के लिए संघर्ष नहीं करता है। उपन्यास में सूरदास का यह संघर्ष दोहरा है। एक उनसे, जो उसकी जमीन ले लेना चाहते हैं। दूसरे उनसे, जिनके लिए वह अपनी जमीन बचाना चाहता है, यानि की अपने ही गाँव के लोगों से। उसकी जमीन के प्रश्न पर नगर में एक विशाल आंदोलन उठ खड़ा होता है, जो अनियंत्रित होकर हिंसा की ओर झुकने लगता है। लेकिन यहाँ पर सूरदास गाँधीवादी सिद्धांतों के ज्यादा नजदीक है। वह अहिंसात्मक प्रतिरोध में विश्वास रखता है। लूट-पाट, रक्तपात आदि में उसका विश्वास नहीं है। जुल्म करने वालों में दया-धर्म जागे, यही उसका अभीष्ट है। इसी संघर्ष में अन्ततः सूरदास की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार 'रंगभूमि' में दलित, पीड़ित और वंचित समूह का प्रतिनिधित्व सूरदास ही करता है और पूरे मनोयोग से अपनी लड़ाई लड़ता है। सूरदास जाति का चमार है और यह जाति भी अपनी तमाम कठिनाइयों के बावजूद मानवीय-दृष्टि रखते हुए अपने हक की लड़ाई लड़ सकती है और यही इनका दलित-प्रश्न है, जो कि वर्ग-संघर्ष है।

'कर्मभूमि' में भी प्रेमचंद का दलित-प्रश्न उभरकर आता है। इस उपन्यास में अछूतों का एक गाँव है और इसमें चौधरी, सलोनी, काशी, गूदड़ आदि अछूत पात्र है। कथानक में यह गाँव प्रमुखता से आता है। प्रेमचंद ने यथार्थ को इस बुलंदी पर पहुँचा दिया है कि चौधरी और उसके गाँववाले पाठक की सारी करुणा, सारी सहानुभूति अपनी तरफ खींच लेते हैं। इन अछूतों की दशा का मार्मिक चित्र, उनके जीवन की बुनियादी समस्याओं तथा उनमें व्याप्त मानवीयता की झाँकी हमें

हिन्दी कथा-साहित्य में 'कर्मभूमि' में मिलती है। प्रेमचंद ने लिखा है - "बेचारे एक तो गरीब, ऋण के बोझ से दबे हुए, दूसरे मूर्ख, न कायदा जाने, न कानून, महन्त जी जितना चाहे इज़ाफा करें, जब चाहे बेदखल करें, किसी में बोलने का साहस न था। अकसर खेतों का लगान इतना बढ़ गया था कि सारी उपज लगान के बराबर भी न पहुँचती थीं, किंतु लोग भाग्य को रोकर, भूखे-नंगे रहकर, कुत्तों की मौत मरकर, खेत जोतते जाते थे। करे क्या?"[37] यह तो हुआ शोषण और प्रताड़ना की अति और बेबसी की चरमावस्था, लेकिन इसके बावजूद अछूत अपने में खुश रहते हैं, मानवीय दृष्टिकोण रखते हैं। मुन्नी, जो कि गोरों के दुराचार का शिकार होती है, अंत में इसी गाँव में आश्रय पाती है। गाँव के लोग उसे बहु-सा सम्मान देते हैं। इसके साथ-ही-साथ मुन्नी तथा अमरकांत के आगमन के पश्चात इन अछूतों में अपने अधिकारों के प्रति उभरती नई चेतना को भी प्रेमचंद चित्रित करते हैं। शहर में होने वाले सत्याग्रह में ये सभी शामिल होते हैं और मंदिर प्रवेश भी करते हैं। प्रेमचंद इन अछूतों की मार्मिक दशा का वर्णन करते हुए इनके तकलीफों के समाधान के रास्तों पर सोचने के लिए पाठकों को भी विवश करते हैं।

नीची जाति के लोगों का किस प्रकार शारीरिक और मानसिक शोषण ऊँची जाति वाले करते हैं, इसका चित्रण हमें 'गोदान' में देखने को मिलता है। कलिया, जो जाति की चमारिन है, उसकी पुत्री सिलिया को पंडित मातादीन ने रखैल बना रखा था। कलिया अन्याय का विरोध करती है और उग्र होकर कहती है - दातादीन - "वाह-वाह पंडित। खूब निवाय करते हो। तुम्हारी लड़की किसी चमार के साथ निकल गई होती और तुम इसी तरह की बातें करते तो देखती। हम चमार हैं, इसलिए हमारी कोई इज्जत ही नहीं है। हम सिलिया को अकेले न ले जाएगें, उसके साथ मातादीन को भी ले जाएगें जिसने उसकी इज्जत बिगाड़ी है। तुम बड़े नेमी-धरमी हो। उसके साथ सोओंगे, लेकिन उसके हाथ का पानी नहीं पिओंगे।"[38]

यहाँ पर समाज के तथा-कथित बड़े लोगों के चरित्र में जो भोगलिप्सा की प्रवृत्ति, उसका खुलासा प्रेमचंद ने किया है और इसके साथ ही इसके भोग-विलास के लिए सहज उपलब्ध छोटी जाति में जागृत होती नई चेतना की ओर भी संकेत किया है। कलिया की तेजस्विता को हम इसी रूप में देख सकते हैं।

इस तरह व्यापक ढ़ग से विचार करने के बाद हम पाते हैं कि प्रेमचंद ने इस 'पीड़ित' और 'दलित' जाति के अधिकारों के लिए संघर्ष किया। लेकिन आजकल के दलित लेखक उनके साहित्य और सुचिंतित चिंतन पर प्रहार करते हैं। इनका मानना है कि सिर्फ एक दलित ही अपनी 'स्वानुभूति' के आधार पर दलित-

जीवन के यथार्थ का प्रमाणिक चित्रण कर सकता है। इसके अनुसार आम्बेडकरवादी चिंतन को आधार बनाए बिना दलित-जीवन के यथार्थ को समझना असंभव है। प्रतिक्रियास्वरूप 'रंगभूमि' की सरेआम होली जलाई गई और दलितों के रहनुमा समझे जाने वाले मुद्राराक्षस ने इसका समर्थन कुछ इस अंदाज में किया - "रंगभूमि का जैसा विरोध किया जा रहा है, उससे ज्यादा बड़े पैमाने पर किया जाना चाहिए।"[39] ये दलित लेखक प्रेमचंद की तमाम टिप्पणियों को काट-छाँटकर बड़ी चतुराई से अपने तर्क के चातुर्य से प्रेमचंद को "सामंत का मुंशी" घोषित कर उनका अवमूल्यन कर रहे हैं। प्रेमचंद का समूचा दलित-संघर्ष, सांस्कृतिक-मुक्ति का संघर्ष है। जाति-धर्म-कर्म इन सबसे पूर्ण एक मनुष्य है, उन्हें मंजूर था। संपूर्णता में ही प्रेमचंद का दलित-प्रश्न सार्थक प्रश्न कहा जा सकता है।

स्त्री प्रश्न

दलित प्रश्न की ही तरह से आज 'स्त्री प्रश्न' ने भी अपनी कमान सँभाल रखी है। हिन्दी उपन्यासों का आरम्भ 'स्त्री प्रश्न' से हुआ तथा आजादी के पहले कथा-साहित्य में प्रेमचंद ने किसानों के बाद स्त्रियों की समस्याओं को प्रमुख स्थान दिया। इसका कारण था कि उनके साहित्य का नवजागरण की चेतना से प्रभावित होना। उस समय प्रेमचंद ने परम्परागत नारी संहिता के चौखटे में स्त्री के 'उद्धार' की बात की थी। डॉ. रामचंद्र तिवारी के शब्दों में - "आधुनिक नवजागरण के साथ ही नारियों को शिक्षित करने और समाज में उन्हें उचित सम्मान प्रदान करने की भावना का उन्मेष हुआ था।"[40]

आरम्भ से ही प्रेमचंद नारी पराधीनता के प्रति चिंतित दिखाई देते हैं। उन्होंने पराधीनता के सभी पहलुओं पर विचार किया है। प्रारम्भिक लेखन में जैसा कहा जा चुका है कि प्रेमचंद स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान देते हैं। स्त्री शोषण संबंधित प्रारम्भिक उपन्यासों में पराधीनता के स्तरों को रेखांकित किया गया है। सभी समस्याओं के मध्य आर्थिक असमानता और पराधीनता की समस्या को उन्होंने प्रारम्भ में भी बार-बार उठाया है। इसे केन्द्रीय समस्या मानते हैं। भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालते हुए प्रेमचंद ने निष्कर्ष निकाला है कि स्त्री चिरकाल से पुरुष द्वारा शोषित एवं आश्रिता है। उसे अधीनस्थ बनाकर रखने के लिए बुद्धिजीवी पुरुष समाज ने अनेक कुप्रथाओं का सृजन किया है। आर्थिक रूप से शोषित होने के कारण ही उसका सामाजिक शोषण भी दहेज, विवाह, विधवा, वेश्या, पर्दाप्रथा आदि के माध्यम से किया जा रहा है। शोषण को कायम रखने के लिए नैतिक मूल्यों का निर्माण सुविधानुसार करके धार्मिक रूप से भी स्त्री को पंगु बना दिया गया है। अतः पुरुष समाज ने आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक स्तरों पर स्त्री का पूरे मनोयोग से शोषण किया है। प्रेमचंद ने रचनात्मक साहित्य और वैचारिक साहित्य दोनों स्तरों पर इस शोषण का पर्दाफाश कर मुक्ति का मार्ग दिखाया है। उनके साहित्य में स्त्री प्रश्न के कई रूप हैं। नारी का एक ऐसा वर्ग है जो चुपचाप पुरुष के शोषण को इसलिए सहती है क्योंकि वह धार्मिक रुढ़िवादिता की शिकार है और नरक में जाने की अपेक्षा घर में प्रताड़ित रहना बेहतर समझती है। एक

दूसरा वर्ग है जो रुढ़िवादिता पर तर्क-वितर्क कर शोषण का विरोध करती है। तीसरा वर्ग ऐसा भी है जो विरोध ही नहीं, बल्कि संघर्ष को उद्यत हो जाती है और आर्थिक समानता की माँग कर शोषण का प्रतिकार करती है। ये तीनों ही वर्ग प्रेमचंद के कथा-साहित्य में प्रारम्भ से लेकर अंत तक समान रूप से विद्मान है। प्रेमचंद ने दूसरे और तीसरे वर्ग का चित्रण उत्तरोत्तर अधिक और विकसित रूप में किया है, जिससे उनका वैचारिक आग्रह प्रकट होता है। वह जागृत नारी को हर क्षेत्र में देखना चाहते हैं।

नारी जागृति का एक रूप धनिया जैसी गरीब नारी का है जो समाज की रुढ़ि मान्यताओं को भी नहीं तोड़ पातीं और शोषण का विरोध भी करती है। दूसरा रूप मालती जैसी सुसंस्कृत नारी का है जो पश्चिमी शिक्षा को प्राप्त किए हुए है और भारतीय को नया आयाम देते हुए भारतीय संस्कृति और समाज के परिप्रेक्ष्य में ही पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति को ग्रहण करती है। तीसरा रूप झुनिया और सिलिया जैसी नीची जाति की नारियों का है जो समानता और अपने आत्मसम्मान की रक्षा की माँग करती हैं। चौथा रूप भी है जो मिनाक्षी जैसी अमीर और सोना जैसी गरीब नारियों का है जो सामाजिक धार्मिक शोषण को एक झटके के साथ तोड़ती हैं और पुरुष से अलग स्वतंत्र जीवन की कल्पना साकार करती हैं। वे पति के शोषण के विरोध में और तलाक और न्यायशीलता दृढ़ता से कर नई जागृति का संकेत देती हैं। किंतु इन सारे रूपों में आर्थिक शोषण का विरोध प्रमुख रूप से स्पष्ट है।

पहले हम नारियों के सामाजिक शोषण पर विचार करेंगे। सबसे बड़ा शोषण पत्नी के रूप में किया जाता है क्योंकि पुरुष की अपेक्षा पत्नी को सामाजिक अधिकार कम दिए गए हैं। वह पति की मुखापेक्षी होती है। माँ-बाप की इच्छा से जिसके गले मढ़ दी जायँ, जीवनपर्यन्त उसी की होकर बनी रहें। उसका शोषण विधवा के रूप में, वेश्या रूप में तथा पर्दाप्रथा के रूप में किया जाता है।

पत्नी के रूप में और नारी के रूप में ही सबसे अधिक शोषण हुआ है। 'देवस्थान रहस्य' में कुवारी लड़कियों को भ्रष्ट करने वाले सामाजिक घटकों का चित्रण किया गया है। बालिका के ही शब्दों में - "मैं जो अभी पन्द्रहवें साल में हूँ। मगर तुम लोगों की बेवफाइयाँ खूब देख चुकी। मेरी एक मुँहबोली बहन की एक

ताल्लुकेदार से साँठ-गाँठ हो गई, पहले तो दो तीन बार पेट गिराया। आखिरकार बाबू ने उसे निकाल दिया।"[41] यही नहीं पारिवारिक शोषण को उजागर करते हुए स्त्री कहती है - "मोटे आछत सौतिन घर डारयो ------ सास ननद मोहे बरही मारे ---- ।"[42] 'रुठी रानी' में प्रेमचन्द ने टिप्पणी की है - "हमारे यहाँ बेटी बिन सींगो की गाय है। माँ-बाप उसके रखवाले हैं।"[43] वरदान में एक प्रेयसी माधवी प्रेम का तप करती हुई योगिनी हो जाती है और एक पिता अपनी पुत्री की इच्छा के विरुद्ध शादी कर देता है - "मुंशी जी के अगणित बांधव इसी भारतवर्ष में भी विद्यमान हैं जो अपनी कन्याओं को इसी प्रकार नेत्र बंद करके कुएँ में धकेल दिया करते हैं।"[44] अनमेल विवाह की शिकार सेवासदन की सुमन ही नहीं वेश्या भोली भी होती है। "यह सब उसी जिहालत का नतीजा है। मेरे माँ-बाप ने मुझे भी एक बूढ़े के गले बाँध दिया था।"[45] प्रेमाश्रम के रियासत के प्रतिनिधि दीन नारियों के साथ और भी पाशविक अत्याचार करने लगे थे। पति के शोषण की बात श्रद्धा करती है - "मुन्नी के जन्म के बाद इस पापी ज्ञानशंकर ने मुझे न जाने क्या खिलाकर मेरी कोख हर ली।"[46]

स्त्री लेखिकाएँ अब स्त्रियों पर होने वाले और हो रहे उत्पीड़न का जिक्र करते हुए साहित्य-सृजन कर रही हैं। उनका दावा है कि भुक्तभोगी ही सही अनुभूति का चितेरा हो सकता है। इस तरह स्त्रियों की व्यथा को पुरुष नहीं समझ सकता। परन्तु प्रेमचंद ने आदिम समाज से चलकर सभ्यता के आज तक विभिन्न सोपानों पर स्त्री के पैरों की बेड़ियों की आवाज सुनी है और उन्होंने अपने कथा-साहित्य में उसे ही दर्ज किया है। यह सिर्फ कह देना कि प्रेमचंद ने पुरुषसत्तात्मक की व्यवस्था को नजर अंदाज किया है, उनके प्रति अन्याय होगा। उन्होंने स्त्री जीवन संबंधी जितनी भी समस्याएँ हैं, चाहे बाल-विवाह हो, विधवा-विवाह हो, दहेज-प्रथा हो, दोहाजू-विवाह हो, अनमेल विवाह हो, पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर किया जाने वाला उत्पीड़न हो सबके कारणों के मूल में पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था पर चोट की है। वेश्या जीवन तथा धार्मिक पाखण्ड के भीतर छिपी कामुकता के भी कारणों के पीछे पुरुष की कुत्सित मनोवृत्ति को ही जिम्मेदार ठहराया है, किन्तु एक बात जरूर ध्यान दिया जा सकता है कि इस समूची व्यवस्था के पीछे सक्रिय अर्थव्यवस्था पर आधारित शोषण की जो परम्परा आदिम काल से चली आ रही है, वह उनकी निगाह से ओझल नहीं हुई है। इस तरह से अगर हम देखे तो प्रेमचंद केवल सतही

समस्याओं का उल्लेख करके ही शांत नहीं होते हैं, बल्कि वे उस शोषण विहीन समाज की वकालत करते हैं, जिसमें समूचा समाज उन्मुक्त हो।

प्रेमचंद की संघर्षशील नारियाँ संघर्ष करने से पीछे हटने वाली नारियाँ नहीं हैं। उन्होंने नए जमाने के अनुकूल स्त्री-स्वातंत्र्य की भी चर्चा की है, किन्तु भारतीय जमीन पर ही रहकर। क्योंकि उन्हें विदेशी सभ्यता और संस्कृति में सराबोर स्त्री-जीवन का काम्य पसंद नहीं था और नैतिकता का लचीलापन तो शायद उन्हें कत्तई बर्दाश्त नहीं था। जो कि आज के स्त्री प्रश्न के केंद्र में है। मिसाल के लिए उनके महिला चरित्र मुन्नी और अहिल्या में देखा जा सकता है।

प्रेमचंद के स्त्री प्रश्न का वृत्त बहुत ही बड़ा और व्यापक था। उसमें समाज के हर तबके की स्त्रियाँ समाहित हैं जबकि आज का स्त्री प्रश्न चंद नागरिक महिलाओं की मनोकामनाओं तक ही सीमित है, जो कि खुद ही इसी समाज की गिरफ़्त में जीवन जीने को मजबूर की जाती है। प्रेमचंद का सरोकार उन दलितों, पीड़ितों और वंचितों से था, जो सदियों से शोषण के शिकार हैं। उनका सरोकार स्त्री-पुरुष प्रश्न या कि मात्र सवर्ण विरोधी दलित प्रश्न तक ही कैद नहीं है। प्रेमचंद तो वृहत्तर मानव समाज की मुक्ति-कामना के पक्षधर माने जाते रहेंगे।

साम्प्रदायिकता

19वी शतीं के उत्तरादर्ध में भारतीय समाज के दो धार्मिक वर्ग एक दूसरे के विरुद्ध अपनी राजनीतिक एवं धार्मिक माँगों के लिए संघर्षरत दिखाई पड़ते हैं। हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म परम्परा से ही वैमनस्यता की चक्की में पिसते रहें हैं। हिन्दू मुस्लिम विद्वेष की नींव मुस्लिम शासन काल में ही पड़ रही थी।[47] यह अधिकतर न्यायसंगत रूप से प्रतीत नहीं होता क्योंकि धार्मिक विद्वेष के होते हुए भी दोनों धर्मावलम्बी अपनी वर्गगत चुनौतियों के समक्ष सजग और एकताबद्ध थे। उच्चवर्ग और निम्नवर्ग, धनी और निर्धन दोनों धर्मों में समान थे और वे वर्गीय शोषण में धर्म का लिहाज नहीं करते थे।

उच्च वर्गीय हिन्दू या मुसलमान दोनों गरीब हिन्दू और मुसलमान जनता का पूरी बेरहमी से शोषण करता था। हिन्दू और मुसलमान जनता यद्यपि समान शोषित थी। अतः वर्ग संघर्ष के दौरान दोनों ने मिलकर हिन्दू और मुसलमान जमींदारों, पूँजीपतियों का विरोध किया। 1857 के महायुद्ध में भी हिन्दू, मुसलमानों की सम्मिलित शक्ति ने धार्मिक राग-द्वेष भूलकर सिर्फ वर्गीय आधार पर (या राष्ट्रीय चेतना से अभिप्रेरित हो) अंग्रेजों से संघर्ष किया।

विपिनचंद्र का मत युक्तिसंगत लगता ही प्रतीत होता है कि - "अंग्रेजों के भारत में आने के और धीरे-धीरे यहाँ तक की जमीन पर अपनी सरकार कायम करने के पहले तक हिन्दू और मुसलमान जनता में कुल मिलाकर कोई कड़वाहट या वैर भाव नहीं था।"[48]

1857 के विद्रोह का दमन करने के बाद अंग्रेजों ने हिन्दू, मुसलमान एकता को खण्डित करने के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाने लगे और साम्प्रदायिकता की नींव रखी। कांग्रेस की स्थापना के बाद इसे बढ़ावा देने का एक बहुत ही अच्छा अवसर मिल गया। उद्योग व्यापार पर भी हिन्दुओं का कब्जा साम्प्रदायिकता का एक ठोस बहाना था।

इसके अलावा विभिन्न धर्म सुधार आंदोलनों ने भी संप्रदायवाद को संबल दिया।"[49] 19वीं सदी के अन्तिम तीन दशकों में मुसलमान साम्प्रदायिकता की लहर

जोरों से चली। इसके जन्मदाता सर सैय्यद अहमद थे। उनके विचारों से यह आकस्मिक परिवर्तन 1885 के बाद अधिक स्पष्ट हो गया। कांग्रेस की स्थापना के तुरंत बाद उन्होंने कांग्रेसी नेता सर तैयद जी को लिखा - "भारत को एक राष्ट्र मानने वाली किसी भी कांग्रेस का चाहे उसका जो स्वरूप और प्रकार हों, मैं विरोध करता हूँ। भारत में अनेक राष्ट्र बसते हैं।"[50] उन्होंने 'यूनाइटेड इण्डियन पैट्रियाटिक एशोसिएशन' नामक मुस्लिम संस्था स्थापित की जिसके सदस्य हर समुदाय के लोग बन सकते थे।

आंदोलन विशेष तौर पर आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन ने धूमिल साम्प्रदायिकता को यह संजीवनी पिला दी कि मृत प्राय विषाक्त सर्प पुनः जीवित हो उठा। विभिन्न धार्मिक आंदोलन ही साम्प्रदायिकता को बढ़ाने के अधिक जिम्मेदार हैं।

1857 के महायुद्ध की घटना कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। बल्कि बहुत पहले से ही इसकी नींव पड़ चुकी थी क्योंकि 1857 के विद्रोह को देखकर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि इससे पहले जनता कितनी ज्यादा गुस्साई हुई थी और किसी खास अवसर की ही ताक में थी। सामंत सरकारों की सहायता से राख में ढ़ँकी हुई जन विद्रोह की अग्नि अत्यंत भड़क उठी थी।

वास्तविकता तो यह है कि हमारे भारतीय किसान ब्रिटिश सरकार की नीतियों से असंतोष का भाव दिखने लगा था। कारण यह था कि उनसे उनकी जमीनों को बलपूर्वक हड़प लिया गया था। वे भूखें-प्यासें जिन्दगी जीने पर मजबूर कर दिए गए। इसके अलावा भी वे सरकारी कर्मचारियों विशेष तौर पर गोरे अधिकारियों तथा पुलिस सिपाहियों के भीषणतम एवं अमानवीय अत्याचार से वे ऊब चुके थे। उनकी पंचायतें भी खत्म कर दी गईं। और तो और झूठे ही उन्हें मुकदमें के चक्कर में अदालतों के ठोकर भी खाने पड़े। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्याय, भ्रष्टाचार, दुराचार से भी प्रतिदिन साक्षात्कार करना पड़ता था। उनकी पत्नियों के साथ पुलिस और सिपाहियों ने मिलकर घृणित कार्य भी किए। उत्तर-भारत के नौकरी से संबंध रखने वाले मध्यमवर्गीय लोगों तथा कुछ उच्च वर्गीय लोगों को सरकारी नौकरियों से बेदखल भी किया गया। जिससे ब्रिटिश सरकार के खिलाफ उनका मिल जाना स्वाभाविक ही था।

अवध की जनता के तुरंत परेशान हो जाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि 1856 में भारी विद्रोह-दमन के बाद अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। वहाँ के राजा-महाराजा, जमींदार और सूबेदारों को अधिकारों से वंचित कर दिया गया। उन पर ज्यादा से ज्यादा समय तक निगरानी रखनी पड़ी।

किसान - मजदूर

हाल में हिज एक्सेलेंसी गर्वनर ने बहराइच का दौरा किया था। वहाँ ताल्लुकेदार एसोसिएशन ने श्रीमान की सेवा में एक एड्रेस को पेश किया। उस एड्रेस में कहा गया था कि प्रांत में काउंसिल आँफ स्टेट की तरह एक दूसरा चेम्बर बनाया जाय और जमीदारों की रक्षा के लिए उन्हें अलग काफी मताधिकार दिया जायँ।[51] गर्वनर साहब ने एड्रेस का जबाब देते हुए ताल्लुकेदारों को जो उपदेश दिया, आशा है कि उन सज्जनों ने ठंडे हृदय से विचार-विमर्श किया होगा और भविष्य में इस पर अमल भी करेंगे। उस समय गर्वनर साहब ने जो ठीक ही कहा कि किसानों पर जमीदारों का जितना प्रभाव है, उतना किसी का हो ही नहीं सकता। उन्हें स्वरंक्षित स्थानों पर जरा भी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि साधारण कानून सभा में स्वरक्षित जगहों पर बराबर आक्रमण होते रहेंगे और बहुत दिनों तक इन हमलों को रोकना दुष्कर हो जाएगा, मगर अड़चन तो मात्र इतना ही है कि हमारे जमीदारों और ताल्लुकेदारों ने अपनी स्वार्थधिता और विलासिता तथा अभिमान में पड़कर इस प्रभाव को खो दिया है और अब उनका मुँह नहीं है कि साधारण सभा में प्रवेश पाने के लिए, वह अपने असामियों पर भरोसा कर सकें। अगर हमारे जमींदार विचारशील होते और समझते कि वह जो चैन कर रहे हैं वह असामियों की बदौलत और असामियों के प्रति उनका कुछ कर्तव्य भी है, तो असामी उनसे विद्रोह क्यों करते। अगर जमींदारों का वश चलता तो असामियों की दशा इससे भी गयी बीती होती। यह तो कौंसिलों के उद्योग का नतीजा है कि जमींदारों के हाथ एक हद तक बाँध दिए गये हैं। अगर भूपतियों का आगे भी वही व्यवहार रहा, तो वास्तव में भविष्य उनके लिए अंधकारमय है।[52]

जैसा गर्वनर महोदय ने फरमाया है - जमींदारों को अपने ही सद्व्यवहार पर भरोसा करना चाहिए, क्योंकि कृतिम साधनों से चाहे थोड़े दिनों तक हम उनकी रक्षा कर सकते हैं, स्थायी रूप से हम उनकी रक्षा नहीं कर सकते। ठीक उसी तरह से जैसे पथिक को लाठी से कुछ सहारा क्षणिक रूप में मिल जाय, पर उसके मंजिल तक तो उसके पैर ही उसे पहुँचा पाएगें।

कृषकों की तरह कितने जमींदार भी कर्जदार हैं। छोटे-छोटे जमींदारों का कहना ही क्या, अक्सर बड़े-बड़े जमींदार भी, जो लाखों रुपये मालगुजारी अदा करते हैं, कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं। जमींदारों और काश्तकारों में अंतर यही है कि काश्तकार मेहनत करके भी कर्जदार है। बड़े जमींदार का तो कहना ही क्या, पाइयों के जमींदार भी जमींदारी की शान में अपने हाथ से कोई काम करना पसंद नहीं करते हैं। उनकी गुजर छीन-झपट से होती है।[53] अब सरकार ने पंजाब और बुंदेलखण्ड की तरह इस क्षेत्र में भी जमींदारों की जायदाद की सुरक्षा करने के लिए नये कानून बनाने का विचार कर रही है। बहुत समय से पुराने खानदानी जमींदारों के बारे में सरकार का ध्यान है कि उन्हें अपने असामियों से प्यार होता है और जमींदारी के काम में कुशल होते हैं। पर उन्हीं में से कुछ जमींदार ऐसे होते हैं कि जिनका अधिकतर जीवन शहरों की विलासिता और ऐश्वर्य से होती है। उन्हें अपनी प्रजा से सिर्फ इतना ही संबंध है कि प्रजा के लोग सीधे-सादे, बेजबान दुधारु गाय की तरह से हैं। उनका काम तो बस इतना ही है कि गाय के दूध को भलीभांति से निकाल ले। गाय को भरपूर भूसा और खली मिल भी पाता है या नहीं उनको इस बात से कुछ भी मतलब नहीं होता है। कितने लोग तो ऐसे भी होते हैं कि उनको उस इलाकों के दर्शन तक भी नहीं कर पाये होंगे। बस उन्हें समय-समय पर पैसा मिलते रहना चाहिए, बस और उनसे प्रजा के सुख-दुख से कोई भी प्रयोजन नहीं है। ऐसे जमींदारों की रक्षा करके सरकार उनके ऐशो-आराम को बढ़ावा ही मात्र देती जा रही है। अभी जो थोड़ा फिक्र करते हुए दिख भी जाते हैं बाद में वह भी नहीं दिखेंगे। अब तो ऐसा लगता है कि सरकारी नौकरियाँ भी उन्हीं को ही दी जाती हैं जो पुश्त-दर-पुश्त सरकारी नौकरी ही करते चले आ रहे हैं, जिनका यही खानदानी पेशा ही है। अगर ऐसा नहीं है तो सरकार को किसी विशेष संप्रदाय की रक्षा करने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी।

जो व्यक्ति समय के अनुसार चल नहीं सकते उनकी रक्षा भला कौन करेगा? फिर तो मजबूरन कानून बनाकर यहाँ की आबादी को दो वर्गों में बाँटना पड़ेगा- कृषक और अकृषक। मगर यहाँ तो अनन्यतम अन्याय हो जाने का भय बना ही रहेगा, क्योंकि साहूकार या दूसरे धनवानों की कोई विशेष जाति नहीं होगी। कुरमी, काछी, ब्राह्मण, क्षत्रिय सभी तो लेन-देन करते ही हैं। कहीं ब्राह्मण महाजन है तो कहीं पर आसामी है। मुसलमानों में न जाने के कारण ही मुस्लिम

संप्रदाय को ही कृषक वर्ग में ही रखा जाएगा और इस तरीके से इस बात से दूर नहीं किया जा सकता। जो सरकार की इच्छा है। पुरानी ज़मींदारी-प्रथा पर धाक जमा लेने के कारण उससे कहीं ज्यादा सख्ती करता हैं। जितना कि वह जमींदार करेगा, जिसे प्रजाजन से मेल-जोल बढ़ाना है। अतः हम यह कह सकते हैं कि हमें ऐसे कानून की जरुरत नहीं है।

प्रेमचंद का इस तरफ झुकाव होने के कारण एक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य भी है। काँग्रेस के विभाजन (1907) के बाद उसका कार्य और प्रभाव क्षेत्र धीरे-धीरे घटा है। वह अभी तक शिक्षित उच्च-मध्य वर्ग की ही संस्था थी। स्वयं पं. जवाहरलाल नेहरु ने लिखा है कि - "सन् 1912 की बड़े दिनों की छुट्टियों में मैं डेलिगेस की हैसियत से बाँकीपुर की काँग्रेस में शामिल हुआ। बहुत हद तक वह अँग्रेजी जानने वाले उच्च श्रेणी के लोगों का उत्सव था, जहाँ सुबह पहनने के कोट और सुंदर स्त्री किए हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे। वस्तुतः एक सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक गरमा-गरमी न थी।[54]

श्री पट्टाभिसीता रमैय्या ने भी लिखा है कि - "पुराने जमाने में काँग्रेसी लोगों को अपनी राजभक्ति की परेड दिखाने का शौक था। 1914 में जब लार्ड पेंट लैण्ड (गर्वनर) मद्रास में आएँ तब सब लोग उठ खड़े हुए और तालियों द्वारा उनका स्वागत किया। यहाँ तक कि श्री ए. पी. पेट्रो जो कि उस समय एक प्रस्ताव पर बोल रहे थे, एकाएक रोक दिए और उनकी जगह सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को राजभक्त का प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए कहा गया जिसे उन्होंने समृद्ध भाषा में पेश किया।"

ऐसी ही घटना लखनऊ काँग्रेस (1916) के समय भी हुई थी, जबकि सर जेम्स मेस्टन काँग्रेस में आए थे और उपस्थित लोगों ने खड़े होकर उनका स्वागत किया था।[55]

प्रथम विश्वयुद्ध 1914 में शुरु हो गया था, जिसमें भारतीय फौजें भी शामिल की गईं। किसान काँग्रेसी के बिलकुल करीब आने लगे। 1915 ईस्वीं में काँग्रेसियों ने चम्पारण जिले में किसानों की परिस्थितयों की जाँच करने के लिए कमीशन बैठाने की माँग का प्रस्ताव किया गया। अगले वर्ष इस मुद्दे की माँग को बहुत जोरदार तरीके से रखा गया, जिसके कारण ही किसानों के असंतोष के बारे

में ही जानने के लिए गांधी जी बिहार गये थे। सन् 1917 में काँग्रेस के अभी तक के क्रियाकलापों की समीक्षा करते हुए बंगाल प्रोविंशियल काँग्रेस के अध्यक्षीय पद से भाषण देते हुए देशबंधु चितरंजन दास जी ने कहा कि - "हम शिक्षित लोग अपनी आत्मा की गहराइयों से अँग्रेजियत के शिकार हो गये हैं। ----- हमारी ओढ़ी हुई अँग्रेजियत हमारे असंस्कृत देहाती भाइयों को हमसे घृणा करना सिखाती हैं ----- बदले में हम भी उन्हें अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। क्या हम उन्हें अपनी सभाओं और सम्मेलनों में आमंत्रित करते हैं? शायद ऐसा हम तभी करते हैं जब हमें किसी दरख्वास्त पर उनके हस्ताक्षरों की जरूरत होती है लेकिन क्या हम अपने किसी भी काम में उनके साथ हार्दिक सहयोग का रूप अपनाते हैं? क्या हम सचमुच उनके साथ ईमानदारीपूर्ण और सहयोगपूर्ण रवैया अपनाते हैं? क्या एक भी किसान हमारी समितियों और सम्मेलनों का सदस्य है? क्या हमारे किसी भी निर्णय में उनकी इच्छाएँ और उनकी आवाज भी शामिल होती है? ----- क्या हम कभी इन क्षीण से क्षीण होती जा रही बीरान बस्तियों और उजाड़ गाँवों के बारे में भी सोचने का भी कष्ट करते हैं? क्या हम एक जून आधे पेट खाकर जिन्दगी को घसीटने वाले भूखे और मलेरिया पीड़ित उन अस्थिपंजरों की चिंता करते हैं, जो व्याधियों के सुनसान जंगल में भुतही परिवेश में दम तोड़ देते हैं, जिनके घर देखने पर विस्मृत, धुंधली आदिम गुफाओं का भ्रम होता है और उनकी जिन्दगी निरंतर लम्बी होती जंजीरों में लिपट घिसट रही है? ------ हमारा राजनीतिक आंदोलन एक गतिहीन, प्राणहीन शक्ति है - वास्तविकताओं से कोसों दूर राजनीतिक ---- अतः हमारे राजनीतिक आंदोलन का आधार ही गायब है, वह जनसामान्य की मुख्यधारा से कटा हुआ है।[56]

गाँधीजी ने 1917 में चम्पारन में नीलहे गोरे जमींदारों के विरुद्ध किसानों के आंदोलन का संगठन किया, और 1918 में खेड़ा में लगानबंदी का आंदोलन चलाया। इन दोनों आंदोलनों में प्रमुख बात है कि इसमें देशी जमींदारों और रजवाड़ों के खिलाफ कुछ भी नहीं कहा गया। ये दोनों ब्रिटिश साम्राज्य विरोधी आंदोलन किसानों और राष्ट्रीय नेताओं के मिलनबिंदु हैं। इनके आने से राष्ट्रीय नेताओं में राष्ट्रीय समस्या को नवीन परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि मिली। जवाहरलाल नेहरू ने किसानों की इस प्रभावकारी भूमिका को इस तरीके से रेखांकित किया हैं, "नई शक्तियों ने अपना सिर उठाया और उन्होंने हमें गाँवों की

जनता की तरफ ढकेला और पहली बार हमारे नौजवान पढ़े-लिखों के सामने एक नये और दूसरे हिन्दुस्तान की तस्वीर आई, जिसकी मौजूदगी को वे करीब-करीब भुला चुके थे जिसे वे ज्यादा अहमियत नहीं देते थे। वह एक परेशान कर देने वाला; बहुत बड़े पैमाने पर सामना करना था; बल्कि इसलिए भी कि उसने हमारे मूल्यांकन की ओर उन नतीजों को, जिन पर हम अब तक पहुँचे थे, बिल्कुल पलट दिया था।[57]

चम्पारन आंदोलन के तुरंत बाद ही मालवीय जी और कुछ और व्यक्तियों ने मिलकर इलाहाबाद में संयुक्त प्रांत की किसान-सभा को एकत्रित कर एक संगठन किया। इस संगठन का मुख्य लक्ष्य था - किसानों और जमींदारों के बीच लगातार बढ़ती हुई शत्रुता की भावना को समाप्त करना, उन लोगों के बीच भाईचारे की भावना को जागृत कराना, किसानों के राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों के प्रति जागरूकता की भावना को जागृत करवाना, उनको गैरकानूनी संघर्षों से रोकना और संवैधानिक संघर्षों की तरफ प्रेरित करना। इस संगठन की शाखाएँ अनेक गाँवों और तहसीलों में खोली गई और दूसरे प्रान्तों में भी इसकी शाखाएँ खोलने का प्रयास करके उस भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस से जोड़ने का प्रयास किया गया। इसी कारण 1918 और 1919 की काँग्रेस में बहुत सारे किसान सम्मिलित हुए। 1919 के काँग्रेस अधिवेशन में इस किसान सभा ने एक क्रान्तिकारी प्रस्ताव पास किया और सरकार से कहा गया कि सारे भारत में किसान ही जमीन का असली मालिक है। काँग्रेस ने इस संदर्भ में और कुछ न करके भारत में लगान व्यवस्था के विभिन्न तरीकों की जाँच करने और किसानों की हालातों का पता लगाने के लिए अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी को कहा।[58]

1918 के काँग्रेस अधिवेशन में किसान नेता पीरू सिंह ने कहा कि - यह कहा जा रहा है कि सिर्फ शिक्षित जनता ही इकट्ठी होकर स्वराज्य की माँग करती है। ऐसा नहीं है। हम भी इसकी माँग करते हैं। "But you will ; never get swaraJ till you carry the cultivators with you." [59]

जबकि वास्तविकता तो यह है कि भारत की राष्ट्रीय राजनीति में किसानों का आगमन भी गांधीजी के साथ ही हुआ और राजनीतिक गतिरोध दूर करके उन्होंने संघर्षों के माध्यम से नई मंजिल को खुद-ब-खुद ढूँढ़ निकाला। पं.

जवाहरलाल नेहरू जी ने ठीक ही लिखा है कि "गांधीजी ताजी हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी साँस लेना संभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे, जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आँखों के सामने से परदे को हटा दिया। वह उस बवंडर की तरह थे, जिसने बहुत सी चीजों को, खासतौर से मजदूरों के दिमाग को उलट-पुलट दिया।[60] इतनी सारी घटनाओं के साथ 1917 की रूसी कान्ति हुई, जिसने दुनिया भर के बुद्धिजीवियों और राजनीतिक नेताओं को झकझोर दिया। आम जनता की संगठित शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण रूसी क्रान्ति था। साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों के सामने नयी दुनिया का स्वरूप स्पष्ट होने लगा। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अपनी नीतियों में बोल्शेविक खतरे को महसूस किया। भारतीय बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर उत्साहपूर्वक रूसी कान्ति का स्वागत किया और अपनी-अपनी दृष्टि से इस क्रान्ति की व्याख्या होने लगी। लेकिन सब व्याख्याओं में इस एक बात पर जोर था कि शोषण को खत्म करने के लिए जनशक्ति का उपयोग जरूरी है। 21 दिसम्बर 1919 को प्रेमचंद ने निगम को लिखा कि "मैं अब करीब बोल्शेविक उसूलों का कायल हो गया हूँ।[61]

राजनीतिक प्रगति के समानान्तर साहित्यिक प्रगति की दिशा भी जनतांत्रिक होती जा रही थी। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में हिन्दुस्तान में कृषि और किसानों की हालत पर विस्तृत रूप से लिखा है। उन्होंने "किसान" नामक काव्य भी लिखा है। सियारामशरण गुप्त का 'अनाथ' और गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' का "कृषक-क्रंदन" (सन् 1916) भी इसी समय निकला। इन कवियों की कविताओं में भी 'उद्धार' भावनाओं की ही प्रमुखता है। देश का उद्धार, समाज का उद्धार, भारत का उद्धार, व्यापार का उद्धार, वेश्या के उद्धार के नारे जब लगने लगे तब भावुक हृदय कवियों की दृष्टि किसानों की ओर भी आ गई। उनके उद्धार के लिए भी नारा लगने लगा। कविताओं में किसानों की वास्तविक पीड़ाओं का चित्रण है, उनके आर्थिक, सामाजिक शोषण का जिक्र है, पर सर्वत्र दया भाव से ही। इसीलिए सनेही की पुस्तक का समर्पण है-

हे भारत के जमींदारगण ! हे श्रीमानों।
दया धर्म थर हृदय धर्म अपना पहचानों।

बे-सुध ऐसे रहों न अब यों लम्बी न तानों
निज कृषकों को निज उन्नति की जड़, बस जानों।
एक कृषक ने किया अश्रुजल से तर्पण है
इसीलिए यह भेंट आप ही को अर्पण है।

प्रेमचंद के रचनाकार मानस का यह संक्रमणकाल है। यह समय उनकी लम्बी जीवन दृष्टि और रचना शैली के निर्माण की दृष्टि से ही संक्रमणकालीन नहीं है, बल्कि उनके विषय-क्षेत्र की दृष्टि से भी संक्रमणकाल है। बाहरी रचनाकारों के प्रभाव को आत्मसात करके नवीन रचनादृष्टि का निर्माण करना इस दौर के रचनाकार प्रेमचंद का मुख्य संघर्ष रहा है। 4 मार्च 1914 को एक पत्र में संघर्ष को स्वयं रेखांकित किया है। "मुझे अभी तक इत्मीनान नहीं हुआ है कि कौन -सा तर्जे तहरीर अख्तियार करूँ। कभी तो बंकिम की नकल करता हूँ, कभी आज़ाद के पीछे चलता हूँ। आजकल काउण्ट टालस्टाय के किस्से पढ़ चुका हूँ। तब से कुछ उसी रंग की तबीयत माइल है। यह अपनी कमजोरी है और क्या?"[62] प्रेमचंद के विषय क्षेत्र निर्माण की दृष्टि से भी यह तथ्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उन पर टालस्टाय का सीधा असर पड़ा है।

वास्तव में प्रेमचंद के जीवन और चिंतन में एक अंतर्विरोध था। वे जिस समाज में जी रहे थे, वह परम्परागत नैतिकता और सामंती मूल्यों से परिचालित होता था या ज्यादा से ज्यादा सामंती मूल्यों से परिचालित होता था। या फिर ज्यादा से ज्यादा सामंती मूल्यों में ही संभावित मानवीयता के परिवेश में जीवन बीत रहा था। लेकिन उन्होंने जिन रचनाकारों को पढ़कर साहित्यिक प्रेरणाएँ ली वे डिकेन्स, टालस्टाय, स्कॉट, विक्टर ह्यूगों आदि प्रजातांत्रिक संसार के जीवन को देखा, उसे अपने यहाँ पाया नहीं। इस खाई को पाटने के लिए यहाँ के ही जीवन को फिर से देखने जाँचने का उन्होंने प्रयास किया। आरंभिक सुधारवादी चेतना इस अंतर्विरोध से पैदा होती है कि हमारे यहाँ भी वैसा ही हो क्यों नहीं जाता?

प्रेमचंद ने अपने कथा-साहित्य में ऐसा दिखाने का प्रयास किया है कि किसानों के सामाजिक संबंध बहुत ही कम लोगों से होता है। इसके कई कारण भी हो सकते हैं। एक तो किसान शारीरिक रूप से राष्ट्रीय जीवन से अलग-अलग

दूर-दूर गाँवों में रहते हैं। जहाँ यातायात साधनों और संप्रेषण के आधुनिक संसाधनों का बहुत अभाव है। रेल, बस आदि आवागमन के आधुनिक साधनों का दैनिक उपयोग प्रेमचंद के किसान नहीं करते हैं। वे या तो चलकर जाते हैं, या फिर बैलगाड़ी से सफर करते हैं। प्रेमचंद अपनी नजरिए से ठीक ही सोचते हैं कि किसी गाँव से बस या रेल नहीं चलती। सिर्फ 'रंगभूमि' उपन्यास में ही विनय की रेल-यात्रा का संक्षिप्त-वर्णन मिलता है। रेडियो समाचार आदि संप्रेषण के आधुनिक साधनों से भी किसान अपरिचित हैं। अतः विश्व के घटनाओं की जानकारी किसानों के पास नहीं रहती है। अतः उनका जीवन-विवेक प्रचलित प्रथाओं और अनुभवगत निरीक्षण से निर्मित होता है। प्रेमाश्रम का बलराज जरूर अखबार की बात करता है, जिसमें रूसी क्रांति की खबरें छपती हैं; लेकिन यह प्रतिनिधि किसान का आरोप पात्र पर कर दिया है। इसके अलावा प्रेमचंद के लगभग सभी किसान निरक्षर हैं - अतः अक्षरों की विशाल भण्डार की दुनिया के विषय में जानकारी उन्हें श्रुतपरम्परा से मिलती है जो अधिकांशतः विकृत और अधूरा होता है। गाँव में शिक्षित व्यक्ति या तो राजकीय या प्रशासकयि विभाग है, या फिर पंडित और सूदखोर महाजन। किसान अनपढ़ होने के कारण ठीक से हिसाब नही कर पाते हैं और यही कारण है कि उन्हें पटवारी और महाजन का शिकार होना पड़ता है। इन सब कारण से किसानों की दुनिया की भौगोलिक और सामाजिक जानकारी बहुत सीमित होती है। उन्हें अधिक से अधिक अपने-अपने गाँव और जिलेंभर की जानकारी होती है। जहाँ या तो उनकी रिश्तेदारी होती है या तो कचहरी और व्यापारिक कामों के लिए नजदीकी बड़े कस्बे में जाना होता है। अधिकतर किसान नजदीक ही अपने बच्चों की शादियाँ भी करता है ताकि उसे आने-जाने में कोई कठिनाई न हो। क्योंकि राष्ट्रीय जीवन से किसान अलग-अलग रहते हैं। अतः राष्ट्रीय श्रम-विभाजन की अन्तर्निर्भरता से भी प्रभावित नहीं होते। उपनिवेशी समाज में रहने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र का उन पर प्रभाव पड़ता है लेकिन वे इस ओर सजग नहीं होते।

"भारतीय किसान के सामाजिक जीवन की अपनी लम्बी परम्परा रही है। भारतीय समाज व्यवस्था के इस परम्परागत स्वरूप और उपनिवेशी राज्य-व्यवस्था के दबाव से उत्पन्न द्वन्द्व, तनाव और संघर्ष की अभिव्यक्ति प्रेमचंद की रचनाओं में हुई है। प्रेमचंद ने किसान के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्न के चित्रण में इस

अंतर्विरोध को केंद्रीय महत्त्व प्रदान किया है। उपनिवेशी व्यवस्था ने भारतीय समाज के परम्परागत ढाँचे को कई जगहों से तोड़ा है या तोड़ने का प्रयास किया है या व्यवस्था के दबाव से यह ढाँचा टूटा है। उनकी रचनाओं में इस टूटन की प्रक्रिया और परंपरागत समाज का इस टूटन के प्रति किया गया प्रतिरोध अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमचंद ने उस कशमकश को वाणी दी है, जब सामाजिक जीवन के परंपरागत मूल्य नाम मात्र के लिए बच रहे हैं और भीतर ही भीतर उपनिवेशी जीवन मूल्य उनका स्थान ले रहे हैं। इस प्रकार से प्रेमचंद ने भारतीय किसान के सामाजिक जीवन को स्थिर रूप में चित्रित नहीं किया है, बल्कि उसके संक्रमणकालीन गतिशील रूप को चित्रित किया है।"[63]

किसान अपनी जीवन पद्धति के कारण ही परंपरागत रूप में ही जीवन जीना चाहता है। वह वही कार्य करना चाहता है, जो अब तक होता आया है। वह रुढ़ियों में और अंधविश्वासों में बँधा हुआ है। वह इन सबसे बेखबर बाहरी दुनिया में आना ही नहीं चाहता है इसीलिए वह सामाजिक बंधनों में दिन-प्रतिदिन बँधता ही चला जा रहा है क्योंकि उसे डर है कि नए कार्य को करने में बाप-दादों का नाम डूब जाएगा। इन्हीं सब कारणों से किसान पुराणपंथी भी होता है। लेकिन समकालीन समाज में उस पर इतने अधिक आर्थिक दबाव पड़ रहे हैं कि वह परंपराओं का पालन करने में अपने आपको ही असमर्थ समझता है। फलस्वरूप एक प्रकार का अपराध-बोध और पराजय की चेतना उसके व्यक्तित्व का अंग बनती जाती है। होरी का चरित्र भी कुछ इसी प्रकार का है। गाँवों में एक परम्परा यह है कि पिता अपनी बेटी के घर जाकर अन्न और जल को भी ग्रहण नहीं करता है इतना ही नहीं बल्कि जिस गाँव में बेटी को ब्याह दिया है उस गाँव के किसी भी कुँए का पानी भी पीना पाप समझता है। इन सबके वाबजूद भी आर्थिक दबावों से पीड़ित सुक्खू चौधरी (बेटी का धन) अपनी बेटी गंगाजली के गहने गिरवी रखने के लिए तैयार हो जाता है। होरी जीवन के अतिंम दिनों में आर्थिक दबाव वश अपनी बेटी को बेचने पर भी मजबूर हो जाता है और अधेड़ व्यक्ति के साथ रुपए लेकर अपनी बेटी रूपा का ब्याह कर देने पर मजबूर हो जाता है। आर्थिक दबाव और परम्परागत जीवन मूल्यों का संघर्ष होरी के जीवन में लगातार मिलता है। दो-चार रुपए के लालचवश होरी दमड़ी बसोर से मिलकर साँझे के सस्ते में बेचने के लिए बड़ी ही सहजता से तैयार हो जाता है। इन सबके बाद भी होरी में भी परम्परा का

प्रवाह बहुत ही तेजी से है। धनिया, हीरा को सजा दिलवाना चाहती है। थानेदार गाँव में जाकर खोज-बीन करने आता है इतना ही नहीं बल्कि वह तो हीरा के घर की तलाशी भी लेना चाहता है। इसमें होरी अपना तथा अपने भाई का अपमान महसूस करता है और तलाशी रुकवाने के लिए तीस रुपए रिश्वत भी देने को तैयार हो जाता है। इतना ही नहीं जब हीरा घर छोड़कर चला जाता है तब भी वह अपने भाई की पत्नी के लिए उसकी खेती भी वही करवाता है। क्योंकि होरी अपनी मरजाद को छोड़ने के लिए किसी भी तरह से तैयार नहीं है।

अंग्रेज भारत में आर्थिक शोषण के लिए राज्य कर रहे थे। उनका मात्र उद्देश्य था - धन की प्राप्ति। धन का इतना मूल्य इसी उपनिवेशिक व्यवस्था की देन था। इसी धन की वजह से ही भारतीय किसान के बीच सामाजिक ढाँचे में दरारें पैदा कर दीं। प्रेमचंद ने समकालीन समाज में पैसे के बढ़ते हुए प्रभाव की बहुत ही कटु आलोचना की है। उन्होंने जगह-जगह पर यह दिखाने का काफी प्रयास भी किया है कि धन मनुष्य की मनुष्यता को खत्म कर रहा है, पैसा ही उसे हृदय शून्य और संवेदनहीन बनाता जा रहा है। धन प्रेमचंद के आगे क्रूरता का प्रतीक है। इसीलिए उन्होंने गरीब, मूर्ख, लाचार और बेसहारा कहे जाने वाले इंसानों में भी निहित मानवीयता को उजागर किया है। उनकी रचनाओं में प्रायः पशुवत जीवन जीने वाली औरतें, पुरुषों की अपेक्षा अधिक न्यायप्रिय रूप में दिखाई गई हैं। छल-प्रपंच, धोखा-धड़ी, ईर्ष्या-द्वेष आदि सामाजिक जीवन की जो विषमताएँ हैं, उनके मूल में कहीं न कहीं अधिक असमानता ही है। प्रेमचंद ने दिखाने का भरपूर प्रयास किया है कि किसान के परंपरागत जीवन के टूटने का बहुत बड़ा कारण रुपए का बढ़ता हुआ मूल्य है, जो औपनिवेशिक व्यवस्था का प्रभाव है।

प्रेमचंद भारतीय समाज की रीढ़ किसान के दुःख को देखते पहचानते थे। किसान जीवन से जो लगाव है, उसे देखना चाहिए।[64] प्रेमचंद ने अपनी कथा-साहित्य में दिखाया है कि भारतीय किसान सदा ही धर्मभीरु रहा है। भारतीय धर्म-व्यवस्था ने असमानता पर आधारित इस समाज व्यवस्था को जायज करार दिया है। मालिक और सेवक के बीच यहाँ सिर्फ आर्थिक संबंध भी माना जाता है। इसमें धर्म जुड़ा हुआ है। मालिक की हुक्म को नहीं मानना धर्म-विरोधी काम है। 'नशा' कहानी का पात्र जमींदार और किसान के संबंधों में निहित इस धार्मिक विचार धारा को

स्पष्ट करते हुए कहता है, "वह लोग तो आसामियों पर इसी दावे से शासन करते हैं कि ईश्वर ने आसामियों को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है। असामी भी यही समझता है। अगर उसे सुझा दिया जाए कि जमींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का कहीं पता न लगे।"[65]

राजा और प्रजा, जमींदार और असामी के बीच की असमानता को धार्मिक कर्तव्य का रूप देकर उसे स्थायी बनाने का जो प्रयास यहाँ सदियों से किया जाता रहा है, उसे प्रेमचंद जैसे आधुनिक राष्ट्रीय बुद्धिजीवियों ने चुनौती दी। इस तरह उन्होंने सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में भी जनतांत्रिक व्यवस्था स्थापित करने की वकालत की।

प्रेमचंद समाज में चल रहे दुहरे मानदण्ड का भी विरोध किया। 'गोदान' में दातादीन का लड़का मातादीन, सिलिया चमारिन से अवैध संबंध बनाए हुए है उसे कोई भी कुछ नहीं कहता, क्योंकि वह भोजन के मामले में सिलिया से छुआछूत रखता है। इसलिए उसका कर्म वहाँ पर जायज है। इधर गोबर का झुनिया से प्रेम हो जाना। इसके फलस्वप झुनिया का गर्भवती हो जाना। होरी और धनिया, झुनिया को अपने घर की बहू के रूप में रख भी लेते हैं। पर उस समय यदि होरी और धनिया, झुनिया को अपने घर में नहीं रखते तो झुनिया उस समय आत्महत्या करने पर विवश हो जाती। होरी की इस मानवीय कृत की सराहना करने के बजाय दातादीन जैसे लोग ही मुखिया बनकर होरी को दण्डित करने से भी नहीं चूकते हैं। यहाँ पर प्रेमचंद सवाल करते हैं, कि आखिर किस मानदण्ड से मातादीन को तो कुछ भी नहीं कहा जाता है और होरी को उसी जगह पर दण्डित क्यों किया जाता है? इसका कारण बिल्कुल साफ नजर आता है कि समाज में जो ब्राह्मण मातादीन के लिए जो मानदण्ड है, वही मानदण्ड गोबर व होरी के लिए नहीं है। ऐसी अनेक प्रकार की विषमताओं पर प्रेमचंद ने अपने साहित्य में कुठाराघात किया है। इन विषमताओं के हिमायती प्रेमचंद कदापि नहीं हैं।

प्रेमचंद एक पारिवारिक व्यक्ति के रूप में किसान के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का चित्रण किया है। मध्यवर्ग के लिए परिवार उपभोग का केंद्र होता है, लेकिन किसान के लिए परिवार उत्पादन का केंद्र भी होता है।

इस बात से कोई भी व्यक्ति अपरिचित नहीं है कि भारत के किसान बुरी तरह कर्ज के नीचे दबे रहते हैं। उनका काम अधिकतर कर्ज से ही चलता है। किसान को खेत में बीज भी डालना होता है तो वह बीज भी सूद पर ही लेने को मजबूर हो जाता है और एक का डेढ़ उसे देना ही पड़ता है। यहाँ तक कि कपड़ा भी उन्हें बजाज या पठानों से उधार लेना पड़ता है। खेती करने के लिए बैल भी प्रायः वे फेरी करने वाले व्यापारियों से उधार ही ले लिया करते हैं। धीरे-धीरे करके पैसा चुकाते हैं। शादी-गमी, तीर्थ-व्रत में तो अपनी सम्मान की रक्षा करने के लिए उन्हें ऋण के बोझ से दब ही जाना पड़ता है और इस ऋण का सूद कम से कम पच्चीस रुपए सालाना है, ज्यादा की तो कोई सीमा ही नहीं, इससे अधिक भी बढ़ जाता है। "गरीब किसान एक बार कर्ज लेकर फिर उऋण नहीं हो सकता। सूद भी नहीं अदा कर पाता, मूल का तो कहना ही क्या और यही कर्ज वह विरासत में अपने पुत्रों पर छोड़ जाता है। कितने जमींदार और साहूकार किसानों या किसान मजूरों को सौ पचास रुपए उधार देकर उनसे यावज्जीवन मज़दूरी कराते रहते हैं। केवल उन्हें जिंदा रहने के लिए कुछ अनाज रोज़ दे दिया करते हैं।"[66]

सूद में किसान का वेतन कटता रहता हैं। अक्सर जमींदार कहते हैं कि किसानों की पैदावार खलिहान में ही कट जाती है। जमींदार ने अपना लगान वसूल कर लिया, साहूकारों ने अपनी बाकी, किसान अपनी मेहनत की कमाई पर भी हाथ झाड़कर अपनी तकदीर को रोता हुआ घर चला जाता है और उसी दिन से कर्ज लेना शुरु कर देता है पूरे वर्ष भर वह कर्ज ले-लेकर ही किसी तरह अपना घर चलाता रहता है। यह तो उस वक्त का हाल है, जब जिंस तेज थी और किसानों के हाथ में थोड़े बहुत पैसे आ भी जाते थे। पर आजकल के किसान तो बिचारे रुपए का दर्शन भी नहीं कर सकते हैं। इसके पीछे जमींदार और सरकार को भी दोषी ठहराना उचित नहीं है क्योंकि यदि जमींदार असामियों से लगान न वसूल करे, तो वो खुद भी भूखे ही रह जाएँगे और सरकार को क्या देंगे। साहूकार भी अगर अपना बाकी न वसूले तो वह भी तबाह ही हो जाएगा। फिर कर्ज भी देने के लायक भी नहीं रह जाएगा। तत्पश्चात् सरकार भी इस समस्या को सुलझाने के लिए सरकारी और गैर सरकारी सदस्यों की एक कमेटी गठित की गई, जिसकों देखने से लगता है कि उस नामावली में सभी विचारों के लोग सम्मिलित थे - जमींदार, अर्थ-विशेषज्ञ, राज कर्मचारी, कांउसिल के मेम्बर। उस समिति ने महीनों

विचार-विमर्श करने के बाद ही अपनी उस रिपोर्ट को जनता के समक्ष पेश किया, जिसमें कृषकों को साहूकारों से बचाने के लिए कई सिफ़ारिशें प्रस्ताव दिए गए हैं। उनमें से ये मुख्य हैं -

1-पंचायती बोर्ड कायम किए जाएँ। असामी या साहूकार दोनों मिलकर तीन, पाँच या सात पंचों की एक पंचायत चुन लें। पाँच सौ रुपए तक के लेन-देन के मुआमलें की सुनवाई न करें। कोई अदालत इतनी रकम तक के मुआमलें को सुनवाई न करें, जब तक पंचायत यह न कह दे कि वह इस मामले का निपटारा नहीं कर सकती। अगर दोनों फ़रीक चाहें, तो एक ही पंच द्वारा मुआमलों को तय कर सकते हैं।

2-सूद की हद बाँध दी जाय। एक ऐसा एक्ट पास कर दिया जाय कि कृषक असामी अदालत से अपने हिसाब की नकल की दरख्वास्त कर सकें। अदालत यह हिसाब तैयार करते समय सूद की दर अधिक देखे, तो शुरु से उसकी तरतीम कर दें। जमानती कर्ज़ पर नौ फीसदी सूद लगा दें। परिस्थिति पर विचार करके सूद की दस, बारह और अठ्ठारह फ़ीसदी तक बढ़ायी जा सकती है। मियाद पर कर्ज न वसूल होने पर अदालत सब रुपए को एक बारगी चुकाए जाने का हुक्म दे सकती है।

3-हर एक महाजन को ठीक-ठीक हिसाब रखने के लिए मजबूर किया जाए और इस हिसाब की नकल असामी को हर छठे महीने दे दी जाय। अगर महाजन इस शर्त को पूरा न करे, तो उनका पूरा सूद या उसका कोई भाग नाजायज़ करार दिया जाय। महाजन हर एक वसूली की लिखी हुई रसीद दे वर्ना उसे सजा दी जाय। असल उतना ही दर्ज किया जाय, जितना कि वास्तव में दिया गया हो, नजराना, या खर्चा, या जुर्माना के नाम से असल में बेशी करना जुर्म करार दिया जाय।

4-खेती की पैदावार या काश्त की जमीन पर, अगर उसका लगान पाँच सौ रुपया से अधिक न हो, डिग्रियों की तालीम अदालतों द्वारा न होकर कलेक्टर द्वारा कराई जाय। कोई डिग्री चार फसलों से ज्यादा पर न करायी जाय और यह जरूरी नहीं है कि चारों फसलें लगातार हों।

5-कोई कृषक असामी कर्ज की डिग्री के लिए गिरफ्तार न किया जाय, इस ऐक्ट के पास हो जाने के बाद किसी ऋण का मूल जो एक महाजन किसी असामी से उसकी जायदाद या फसल कुर्क करके वसूल कर सकता है, इस तरह से होना चाहिए -

जमींदार से -	मालगुजारी का दस गुना
शरहमुअइयम या दख़ीलकार से -	लगान का दस गुना
ग़ैर दखीलकार से-	लगान का पाँच गुना
सिक्मी से-	लगान का तिगुना

6-किसी असामी पर रुपए दिलवाने का दावा उसी जिले में होगा, जिसमें वह रहता है या जहाँ उसे रुपया दिया गया हो। बीस महीने के भीतर जब असामी चाहे सूद के साथ अदा कर सकता है।

7-ग़ैर दाखिलकार काश्तकारों को अपनी ज़मीन रेहन रखने का हक दे दिया जाय।

8-छोटी मिलकयतों का आकार नियुक्त कर दिया जाय और उन पर लगान या मालगुज़ारी न बढ़ायी जाय।

9-फेरी करनेवाले महाजनों को किसी खास परगना या म्युनिसिपैलिटी में लेन-देन करने या कपड़ा बेचने के लिए लेसंस दिया जाय, जो पहले पचास रुपए फ़ीस आदमी होगा और दस रुपए फ़ीस देकर हर साल बदला जा सकेगा।[67]

हमारे यहाँ के किसानों को तरह-तरह की यातनाओं से भी होकर गुजरना पड़ता है। उनके खेतों को दूर-दूर तक तथा अलग-अलग दिशाओं में होने से भी बहुत बड़ी समस्या होती है। अधिकाँशतः किसानों के पास ढ़ाई-तीन बीघे जमीन होते हैं, उनमें से कुछ पूर्व दिशा में तो कुछ जमीन पश्चिम दिशा में पन्द्रह बिस्वा उत्तर दिशा में तो पन्द्रह बिस्वा दक्षिण दिशा में होने से भी किसान को कठिनाई का सामना करना पड़ता हैं। क्योंकि किसान को एक खेत का हल जोतकर दूसरे खेत में जाने के लिए मीलों चलकर जाना पड़ता है, इससे किसानों का समय और थोड़ा बहुत परिश्रम भी जरूर ही बेकार जाता है। वह एक ही जगह न तो ट्यूबेल लगवा सकता है और न ही कुँए खुदवा सकता है और न ही बाड़े बनवा सकता

है। किसान की सबसे बड़ी समस्या तो यही है कि एक साथ में खेतों का न होना। जब तक किसान की इस समस्या का समाधान नहीं किया जाएगा तब तक किसान ऐसे ही झेलते रहेंगे। यहाँ तक भी समस्या पैदा हो जाती है कि वह अपने फसलों का ठीक प्रकार से देखभाल भी नहीं कर पाएगें। अतः सर्वप्रथम हमें किसानों की इस प्रकार की समस्या को दूर करना ही पड़ेगा। पंजाब की प्रांतीय सरकार ने इस विषय में बहुत कुछ कार्य किया है। लेकिन अभी भी हमारे प्रांत में इस कार्य को लेकर सरकार जागरुक नहीं हुई है, एक दो जगह चकबंदी का आयोजन भी किया गया है, पर ऊपर से कुछ मदद न मिलने के कारण कोई खास सफलता प्राप्त नहीं हुई है और एक दो जिलों को छोड़कर कहीं और चर्चा तक भी नहीं हुई हैं। खुशी की बात यह है कि रायसाहिब बाबू आनंदस्वरूप एम. एल. सी. ने लीडर में एक पत्र लिखकर जनता और सरकार का ध्यान इस ओर खींचने की काफी चर्चा भी की है। कृषि के विषय में सुधार हेतु रुपया, समय और जो सबसे महत्त्वपूर्ण है शिक्षा की बहुत ही जरुरत है, लेकिन इस सुधार के लिए सरकार एक फूटी कौड़ी भी खर्च नहीं करना चाहती है, जबकि भारत की शहरी आबादी इन किसानों पर ही जीवन-यापन करती है, सरकार बेकार की चीजों में पैसा खर्च कर सकती है पर किसानों की तरफ उसका ध्यान कभी भी नहीं होता है। यदि सरकार थोड़ी सी जागरुकता किसानों के प्रति भी दिखाए तो किसान बहुत ही अच्छी पैदावार कर सकते हैं और इससे किसान तथा सरकार दोनों को ही बहुत बड़ा फ़ायदा हो सकता है। थोड़ी सी सुविधा से किसानों को बहुत फ़ायदा हो जाएगा और फसलों की पैदावार भी बढ़ जाएगी।

गाँव की जमीन को मिट्टी के अनुसार बाँट देना चाहिए। जैसे - बलुआ, काली और कंकरीली मिट्टी के हिसाब से कर देना उचित होगा। इसके तत्पश्चात् आबादी के पास और आबादी से दूर का विचार कर हर एक किसान का जमीन बाँट दिया जाय। जमीन की पैदावार का भी ध्यान देना पड़ेगा। "सोलह आने पैदावार की जमीन के एक बीघे के बदले में आठ आने पैदावार के दो बीघे मिल जाएगें। पैदावार का तख्मीना करते समय तालाब, सड़क आदि के सामीप्य पर भी ध्यान रखना पड़ेगा, जिसमें किसी किसान की हकतलफ़ी न हो। गाँववालों की पंचायत की सलाह से तखमीने का अफ़सर बँटवारा कर देगा। किसानों को तो लाभ होगा, पटवारियों का काम हल्का हो जाएगा और वह जमीन, जो मेड़ों से

घिरी हुई है और जिसके बारे में हमेशा किसानों के झगड़े होते रहते हैं, खेत भी मिल जाएगी।"[68] मेरे विचार से यदि किसानों को ऐसी सुविधाएँ प्रदान की जाएगी तो वह इन सुविधाओं का स्वागत करेंगे। जब तक किसानों की चकबंदी नहीं होगी तब तक सुधार की उम्मीद करना भी असंभव ही है। न तो वे थोड़ी जमीन के लिए नई-नई जिंसे पैदा करेंगे। यदि ऐसा हुआ तो कृषि की उन्नति की यह प्रथम चरण होगी और हमें उम्मीद है कि सरकार ऐसा किसानों के लिए प्रयास जरूर करेंगी।

भारत के करीब अस्सी फ़ीसदी लोग खेती करते हैं। कितने लोगों का तो जीवन किसानों पर ही निर्भर होता है, जैसे गांव के लुहार, बढ़ई आदि। हमारे राष्ट्र के ही हाथ में ही है जो कुछ भी है हमारा देश किसान और मजदूरों के बल पर निर्भर है। हमारे यहाँ स्कूल और विद्यालय, पुलिस और फौज़, हमारे यहाँ की अदालतें और फौजदारी, कचहरियाँ सब किसानों की कमाई के बल पर ही चलती हैं, फिर जो इतने बड़े राष्ट्र को अपनी कमाई के बल पर खिलाते हैं, वही किसान खुद अन्न और वस्त्र के लिए तरसते हैं। ठण्ड के कारण ठिठुरते और मक्खियों की तरह मर जाते हैं। एक समय वह भी हुआ करता था जब गाँव के लोग अपने डील-डौल, बल-पौरुष के लिए मशहूर थे जब गाँवों में घी और दूध पर्याप्ति मात्रा में पाया जाता था। उस समय के लोग चिरंजीवी हुआ करते थे। उस समय गाँव की जलवायु भी स्वास्थ्य के प्रति काफी अच्छी होती थी लोग हृष्ट-पुष्ट हुआ करते थे, पर अब इस समय किसी भी गाँव में जाने पर देखने से एक आदमी भी हृष्ट और पुष्ट नहीं मिलेगा, न तो किसी के शरीर पर मांस है और न ही कपड़ा, मानों चलते-फिरते कंकाल नजर आते हैं। उनको रहने के लिए स्थान भी नहीं है। "उनके द्वारे पर खड़े होने तक की भी गजह नहीं, नीची दीवारें पर रखी हुई फूस की झोपड़ियों के अंदर वह, उसका परिवार, भूसा, लकड़ी, गाय-बैल सब के सब पड़े हुए ज़ीवन के दिन काट रहे हैं। कोई समय था जब भारत के धन का संसार में शोहरा था। यहाँ के सोने और जवाहरात की चमक से दूर-दूर के कवियों की आँखों में चकाचौध हो जाती थी, विजेताओं के मुँह में पानी भर आता था, मगर आज वह कपोलकथा मात्र है।"[69]

आज भारत ऐसी स्थिति में आ गया है उसकी कहीं भी थाह नहीं है, जिसका कारण है, भारत में दरिद्रता और अज्ञानता। लार्ड कर्जन ने 1901 में यहाँ

की व्यक्तिगत आय का अनुमान तीस रुपए किया था। 1915 में एक दूसरे हिसाबदाँ ने इस अनुमान को पचास रुपए तक पहुँचाया, और 1915 में वह समय था योरोपीय महाभारत ने चीजों का मूल्य बहुत बढ़ा दिया था। 1930 में वही हालत फिर हो गई थी, जो 1901 में थी और हिसाब लगाया जाय तो आज हमारी व्यक्तिगत आय शायद पच्चीस रुपए से अधिक न हो, पर आज अभी भी किसानों की दशा वैसी ही है। उनकी खेती के औजार, साधन कृषि-विधि, कर्ज़, दरिद्रता सब कुछ पहले जैसा ही तो है।

सरकार समय समय पर उनकी रक्षा करने हेतु कानून बनाए गए, उनको इसका काफी फायदा भी होता पर जमींदारों के विरोध के चक्कर में उन्हें इस कानून का कोई लाभ नही मिल पाया। कुछ भी नियम बन जाय पर उनसे किसानों को अधिक लाभ नहीं होने वाला। पर नए क़ानून बनने से इतना तो जरूर हुआ कि उनकी पतनोन्मुखी प्रगति रुक गई लेकिन उन्नति के लिए दशाएँ अनुकूल न हो सकीं। "हमें तो उन्नति के लिए ऐसे विधानों की जरुरत है जो समाज में विप्लव किए बिना ही कमाने में लाए जा सकें। हम श्रेणियों में संग्राम नहीं चाहते। हाँ, इतना अवश्य चाहते हैं कि सरकार और जमींदार दोनों ही न भूल जाए कि किसान भी मनुष्य हैं, उसे भी रोटी और कपड़ा चाहिए, उनके घर में शादी गमी के अवसर आते हैं, उसे भी अपनी विरादरी में अपने कुल की मर्यादा की रक्षा करनी पड़ती है।"[70]

लगान लगाते समय इतना तो ध्यान रखना ही चाहिए कि कम से कम खेती में इतनी इतनी तो मज़ूरी तो मिल ही जाय कि किसान ~~अपने बच्चों का~~ साल भर तक अपने बच्चों का पालन-पोषण कर सकें। हमारे यहाँ ऐसे किसान है जिनके पास मुश्किल से तीन-चार एकड़ ही जमीन है। बहुत किसान तो ऐसे जिनके पास इतनी भी जमीन नहीं है। अतः मजदूरी करके अपना भरण-पोषण करते हैं। जिसके पास जमाबंदी जितनी छोटी होती है, उसका खर्च भी उतना ही ज्यादा होता है। इसलिए जमीन का लगान नए सिरे से ही करना चाहिए और उससे जमींदारों की आमदनी कम हो जाएगी और सरकार भी अपने बजट बनाने में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, लेकिन किसान के जीवन का अन्य सभी हितों से कहीं ज्यादा मूल्य का है।

राष्ट्र की अवधारणा

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन और भारतीय राष्ट्रवाद का एक दूसरे से गहरा संबंध है। विद्वानों के एक बड़े वर्ग की मान्यता है कि भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म स्वाधीनता संघर्ष के दौरान ही हुआ। ए. आर. देसाई लिखते हैं :-

"भारतीय राष्ट्रवाद अर्वाचीन तथ्य है। ब्रिटिश शासन और विश्व शक्तियों के कारण तथा भारतीय समाज में उत्पन्न और विकसित अनेक भावनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ कारकों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्रिटिशकाल में भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म हुआ।"[71]

समकालीन विमर्श में राष्ट्र एक राजनीतिक अवधारणा है और राजनीतिक अर्थों में ही राष्ट्र और राष्ट्रवाद आज बीच में बहस में हैं किंतु वैदिक युग पर ध्यान केन्द्रित करें तो हम पाते हैं कि उस युग में परिवार (जिसे बहुधा 'गृह' कहा गया हैं) के आगे का जो सामाजिक ढ़ाँचा था, वह ग्राम और राष्ट्र के रूप में था। उन दिनों भी राजनीतिक रूप से संगठित जन ही राष्ट्र या जनपद कहलाता था।[72] डॉ. श्यामलाल पाण्डेय वेदों के कुछ संकेतों के आधार पर वैदिक संहिताकालीन राज्य के चार तत्वों की बात करते हुए राष्ट्र को एक बताते हैं।[73] उनके अनुसार अन्य तीन तत्व ब्रह्म, क्षत्र और विश थे।

वैदिक वाङ्मय में 'ष्ट्रन' का अनेक अर्थो में प्रयोग हुआ हैं। 'राज' धातु में 'ष्ट्रन' प्रत्यय के योग से निष्पन्न जिस 'राष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति नैरुक्तों ने पशुधान्यहिरण्यसंपदाराजते तेति राष्ट्रम् के रूप में की है, इसका अनेक अर्थो में प्रयोग हुआ है। संहिताओं में 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग भू-भाग के लिए किया गया हैं।[74]

आधुनिक युग में विद्वानों ने राष्ट्र और राज्य को एक सदृश्य स्वीकारते हुए राष्ट्र की निश्चित भू-भाग, जनसंख्या, सरकार और सम्प्रभुता जैसे तत्वों से जोड़कर ही देखा है। पश्चिम में 'राष्ट्र' के लिए जिस अंग्रेजी शब्द ने 'नेशन' का प्रयोग हुआ है, वह भी पूर्व में अनेक अर्थो से भरा था। उदाहरण के लिए याद करना होगा कि कभी आयरलैण्ड में 'कुलप्रमुख' को राष्ट्र प्रमुख कहा जाता था।[75]

लेकिन बाद में 'नेशन' शब्द ने विस्तृत अर्थ ग्रहण किया और सम्प्रभुता की अवधारणा का वाहक बना। पश्चिमी इतिहास के आधार पर ज्ञात होता है कि मध्य युग के ठीक बाद के वर्षों में जर्मनी और फ्रान्स जैसे देशों में 'राष्ट्र' शब्द उच्च शासक वर्ग के लिए प्रयुक्त होता था। सत्रहवीं सदी तक आते-आते राष्ट्र शब्द किसी राज्य की विशेष आबादी को रेखांकित करने के लिए प्रयुक्त होने लगा और फिर फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने इसे सर्वथा नया अर्थ प्रदान किया। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति ने 'नेशन' शब्द को अपार लोकप्रियता दी और देशभक्ति का नया अर्थ भी दिया।

राष्ट्र के विषय में अलग-अलग विद्वानों की अलग-अलग राय है। बर्गेश के अनुसार -"राष्ट्र जातीय एकता में बँधा हुआ वह जनसमूह है जो एक अखण्ड भौगोलिक प्रदेश में निवास करता है।"

गार्नर के अनुसार- "राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का एक समूह है जो अपने मानसिक जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में पूर्ण चैतन्य और दृढ़ निश्चयी है।"

ब्राइस के अनुसार- "राष्ट्र एक राष्ट्रीयता है, जिसने अपना संगठन एक राजनीतिक संस्था के रूप में कर लिया है और जो स्वतंत्र हो या स्वतंत्रता की इच्छा रखता हों।"

जे. एस. मिल के अनुसार-"मानव-समाज का कोई भाग तभी राष्ट्र बनता है, यदि उसके सदस्य आपस में उन सहानुभूतियों से संगठित हों, जो उनके और अन्य ऐसे ही समूहों के बीच न पाई जाएँ और उन्हें दूसरों की अपेक्षा अधिक आपसी सहयोग की ओर प्रेरित करती हों।"

हान्स जे. मारगेन्थाऊ के अनुसार- " राष्ट्र सम्प्रभु राज्य बनकर ही रहता है। एक राज्य राष्ट्रवाद का तकाजा है, राष्ट्र राज्य ही उसका अन्तिम लक्ष्य है।"

प्रो. कोन के अनुसार- "राष्ट्र समान भावना से बँधे एवं उससे प्रेरणा ग्रहण करने वाले मानवों का समूह मात्र नहीं हैं, बल्कि वह अपने को सम्प्रभु राज्य के रूप में, जिसे वह सामाजिक जीवन का सर्वाधिक संगठित रूप समझता हैं, परिणत होते देखना चाहता है।"

इस प्रकार हम देखते है कि "राष्ट्र की वर्तमान अवधारणा" तक 'राष्ट्र' शब्द को कितना लम्बा सफर तय करना पड़ा। आज भी और पहले भी अलग-अलग काम भी किया है।

देशों में 'राष्ट्र' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ होता है। फ्रेडरिक हट्र्ज तो साफ-साफ लिखते हैं कि एक ही राजनीतिक या लेखक प्रायः अपनी रुचि और प्रतिपाद्य के अनुसार 'राष्ट्र' शब्द की अर्थाभिव्यक्ति में परिवर्तन कर लेता है।[76] फिर भी (नेशनालिटी) को एक निश्चित अर्थ प्रदान किया है। आज "राष्ट्र ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो एक निश्चित स्थल के निवासी हों, जो सामान्यतः विभिन्न जातियों के हों, किन्तु समान इतिहास में ग्रहण किए विचारों एवं भावनाओं के परिपोषक हों, समग्र रूप से जो वर्तमान की अपेक्षा अतीत की स्मृतियों के कारण अधिक संबद्ध हों जिनके धार्मिक विश्वास तथा विचार प्रकाशन की भाषा एक हो, समान विचारों तथा भावनाओं के साथ जो एक सामूहिक इच्छा में विश्वास करते हों तथा इस सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति और पूर्ति के लिए एक विशिष्ट राज्य का निर्माण कर लिया हो या करने के लिए इच्छुक हों।"[77] सुप्रसिद्ध चिंतक ई. एच. कार का मानना है - राष्ट्र शब्द से जैसे मानव समूह का बोध होता है, उसके लक्षण हैं -

1-अतीत और वर्तमान में वास्तविकता अथवा भविष्य के लिए आकांक्षा के रूप में सर्वनिष्ठ सरकार की धारणा।

2-अपना अलग विशिष्ट आकार और सदस्यों का पारस्परिक सम्यक्र्य सामीप्य।

3-न्यूनाधिक निर्धारित भू-भाग।

4-ऐसी चरित्रगत विशेषताएँ (भाषा इनमें सर्वाधिक बहुल हों) जो किसी राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों और अराष्ट्रिक समुदायों से अलग करती हैं।

5-सदस्यों के सम्मिलित स्वार्थ।

6-सदस्यों के मन में राष्ट्र की जो छवि हैं, उससे संबंधित समवेत भाव या इच्छा-शक्ति।[78]

इस प्रकार से हम देखते हैं कि राष्ट्र की अवधारणा में जातीय एकता, भाषा की एकता, धर्म, भौगोलिक एकता, समान संस्कृति और समान ऐतिहासिकता, राजनीतिक और आर्थिक हितों की समानता जैसे तत्त्व किसी-न-किसी रूप में कार्य करते हैं।

राष्ट्र के जाति (रेस) का संबंध महत्त्वपूर्ण है। दुनिया के लगभग सभी देशों के राष्ट्र जैसी अवधारणा जुड़ने में रेस की समस्या से जूझना ही पड़ता है। हम प्राचीन भारत के इतिहास को देखें तो उसमें वर्णित म्लेच्छगण, शूद्र-आभीरगण और इनके गणराज्य इसी रेस की अवधारणा से जुड़े हैं। राहुल सांकृत्यायन ने तो भारतवर्ष के नामकरण को ही भरत नामक रेस से जोड़कर ही देखा है। उन्होंने साफ लिखा है कि "भरत जाति के आधार पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा हैं।"[79] यहाँ यह गौर करने की बात है कि जब कोई राष्ट्र हमें अपने को किसी नस्ल विशेष से जोड़कर देखने लगता है तो वह कट्टरता जन्म लेती है और ऐसी कट्टरता मनुष्य विरोधी होती है। यद्यपि कि आधुनिक विद्वानों में जातीयता और राष्ट्रीयता में केंद्रीयता को लेकर मतभेद है, जैसा कि अर्नेस्ट रेने और डॉ. ए. डी. आशीर्वादम् के विचारों से स्पष्ट है। अर्नेस्ट रेने का मानना है कि "राष्ट्रीयता, जातीयता को चीरकर निकल गयी है। आधुनिक राष्ट्रों के निर्माण में जाति-विज्ञान की धारणा का कोई स्थान नहीं रह गया है।[80] वहीं डॉ. ए. डी. आशीर्वादम् का मानना है कि "राष्ट्रीयता ही जाति की सृष्टि करती है, जाति राष्ट्रीयता की सृष्टि नहीं करती।"[81]

किसी राष्ट्र के निर्माण में भाषा की भूमिका बहुत गहरी होती है। खासकर आधुनिक राष्ट्रों के निर्माण में भाषा ने प्रभावशाली भूमिका का निर्वाह किया है। बांग्लादेश इस बात का सबूत है राष्ट्रों की निर्मिति में कई बार धर्म से भी अधिक महत्त्वपूर्ण भाषा की भूमिका होती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जो मुसलमान धर्म के नाम पर पाकिस्तान के साथ थे, वहीं पूर्वी बंगाल के मुसलमान 'बंग्ला' के नाम पर कोई समझौता न कर सके। यद्यपि यह घटना सामान्य सिद्धांत का रूप नहीं ले सकती, फिर भी यह तो मानना ही होगा कि सिद्धांतों को ऐसी घटनाएँ सही और गलत साबित करती रहती हैं। वैसे राष्ट्र के संबंध में भाषा को लेकर रैम्नेमोर का यह कथन बहुत दूर तक साहित्य, महान विचारों की एक सामान्य प्रेरणा, गीतों और लोककथाओं की एक सामान्य पैतृक

संपत्ति का अर्थ लें, तब तो निःसंदेह भाषा का महत्त्व अन्य अनेक राष्ट्र के निर्मापक कारकों से अधिक है।[82] हमें यह याद रखना चाहिए कि भारत जैसे राष्ट्र में एक राजभाषा के सिद्धांत के बावजूद कई भाषाएँ अपनी पूरी अस्मिता के साथ विद्यमान हैं।

राष्ट्र के निर्माण में धर्म की भूमिका विवादास्पद है क्योंकि अलग-अलग राष्ट्र धर्म के विषय में अलग-अलग दृष्टिकोण रखते हैं। प्राचीनकाल में धर्म की भूमिका के संबंध में डॉ. राधाकृष्णन का यह कथन ध्यान देने योग्य है, "धर्म का कबायली या सान्धिक रूप बहुत प्रारम्भिक समय से मिलता है। उस समय धर्म का कार्य अपने अनुयायियों को देशभक्ति पूर्ण कार्यो में लगाना था। इज़राइल के ईश्वर के रूप में 'याह्वा' उन लोगों की राष्ट्रीय चेतना और उनकी आशाओं-आकांक्षाओं का प्रतिनिधि था।[83] बाद के इतिहास पर ध्यान दें तो वहाँ स्पष्ट है कि धर्म ने दुनिया में कई नए राष्ट्र बनाए। सन् 1832 ईस्वीं में रोमन कैथोलिक और फ्रेटस्टेण्ट अनुयायियों के आधार पर ही बेल्जियम और हालैण्ड एक राष्ट्र से दो राष्ट्र हो गए। ग्रेट-ब्रिटेन से अलग होकर इसी प्रकार आयरलैण्ड में इसीलिए सम्मिलित नहीं हो सका, क्योंकि वह प्रोटेस्टेण्ट अनुयायियों से भरा था। पाकिस्तान का निर्माण भाषा और धर्म के आधार पर ही हुआ था। किन्तु धर्म हर स्थिति में विभाजन का ही आधार नहीं होता। धर्म की प्रगतिशील भूमिका को भी रेखांकित करना होगा। प्रो. नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है, "एक विशेष सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ में धर्म क्या रूप लेता है, यह देखना चाहिए, और साथ ही यह भी कि धर्म की सामाजिक भूमिका को कौन किस तरह इस्तेमाल कर रहा है, इसको पहचाने बिना धर्म का नकार भी अन्य वैज्ञानिकतावाद होगा।"[84] राष्ट्र के संबंध में 'धर्म' के इस्तेमाल पर दृष्टि रखनी होगी। जो लोग भारत को कभी इस्लाम धर्म से संचालित स्वीकार करते हैं, उन्हें मुहम्मद हबीब के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए, "यह किसी भी माने में एक धर्म-राज्य नहीं था। इस्लामी शरीयत नहीं बल्कि जवाबित, यानी बादशाह द्वारा बनाए गए राज्य के कानून इसका आधार थे।[85] गाँधीजी जैसे धार्मिक राष्ट्रवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि धर्म का राजनीति से संबंध नहीं है।[86] लोकतंत्र और समाजवाद जैसी राजनीतिक व्यवस्थाओं में धर्म राष्ट्र के परिचालन का मुख्य तत्त्व नहीं रह गया है।

किसी राष्ट्र की निर्मित एक निश्चित भू-भाग के बिना संभव नहीं हो सकती। दुनिया में कई ऐसी नस्लें पाई जाती हैं जो एक निश्चित भू-भाग में न बस पाने के कारण राष्ट्र से वंचित रह गई। उदाहरण के लिए जिप्सियों को देखा जा सकता है। ये दुनिया के अलग-अलग राष्ट्रों में बसें हैं, पर उनका कोई अपना राष्ट्र नहीं है। कहने के लिए कहा जा सकता है कि जो जिस राष्ट्र में निवास कर रहा हो, वही उसका राष्ट्र है। किन्तु सत्य इतना इकहरा नहीं है। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार दक्षिण अफ्रीका के विषय में लिखते हैं, "दक्षिण अफ्रीका में गौरांग योरोपियन, भारतीय और मूल अफ्रीकन लोग देर से एक साथ रह रहे हैं, पर इन तीनों ने मिलकर एक अफ्रीकन राष्ट्रीयता का विकास नहीं किया। नस्ल, वर्ण, धर्म आदि की भिन्नता के कारण वे एक साथ रहते हुए भी एक राष्ट्र नहीं बन सके।"[87] इन बातों के बाद भी यह स्पष्ट है कि राष्ट्र बिना भू-भाग के नहीं बन सकता और सम्प्रभुता के बिना आत्मनिर्भर नहीं हो सकता।

संस्कृति बहुत से अर्थों से भरा हुआ एक शब्द है। किसी राष्ट्र के निर्माण में संस्कृति की बहुत बड़ी भूमिका होती है। संस्कृति के संबंध में यह कहना तार्किक ही है कि - संस्कृति वह तत्त्व है, जो राष्ट्ररूपी वृक्ष के निर्माण में उर्वरक का कार्य करती है। संस्कृति ही राष्ट्र का सांस्कृतिक स्वरूप तैयार करके उसे महत्ता प्रदान करती है, वालटेयर ने लिखा है, "हमारी भाषा और हमारे साहित्य ने 'शार्लमान्य' (एक प्रसिद्ध विजेता) की अपेक्षा अधिक प्रदेश जीते हैं।"[88]

कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृति के अन्तर्गत साहित्य कला, रीति-रिवाज, धर्म और आचार-विचार सब आ जाते हैं। संस्कृति के साथ ही साथ समान ऐतिहासिकता भी राष्ट्र का एक प्रमुख तत्त्व है। "राष्ट्रीय इतिहास और अतीत की घटनाओं पर आधारित समान दुखात्मक-सुख संस्मरण लोगों में एकता की तीव्र अनुभूति पैदा करके राष्ट्रीयता का बोध पैदा करते हैं। समान जाति से संबंध रखने वाले की अपेक्षा समान इतिहास रखने वाले लोगों में राष्ट्रीय चेतना अधिक प्रबल होती है। किंतु इतिहास को भी राष्ट्रीयता की पुष्टि के कारकों में ही रखा जा सकता है, निर्माणकों में नहीं। उदाहरण के लिए अमेरिकी राष्ट्र अस्तित्व में आया तो उसका कोई समान इतिहास न था। परन्तु लगभग दो सौ वर्षों से एक-दूसरे के सुख-दुःख में साझीदार रहने पर अमेरिकियों का एक समान इतिहास हो गया, जो उन्हें दृढ़ता से संगठित किए हैं।"[89]

राजनीतिक और आर्थिक हितों की समानता भी राष्ट्र की निर्मिति और राष्ट्रीय अनुभूति की निर्मिति में आवश्यक होती है। विस्मार्क से पहले जर्मनी उसी रूप में न था, जिस रूप में आज है। विस्मार्क ने छोटे-छोटे राज्यों को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधकर जर्मन राष्ट्र को खड़ा किया। कहने का आशय यह है कि किसी राष्ट्र की दृढ़ता के लिए एक राजनीतिक सूत्र भी होना ही चाहिए।

राष्ट्र के स्वरूप को लेकर अब तक विद्वानों के बीच न जाने कितनी सार्थक बहसें हो चुकी हैं और एक सीमा तक 'राष्ट्र' परिभाषित भी हो चुका है। सांस्कृतिक चेतना, भौगोलिक एकता और आर्थिक स्वार्थों ने ही राष्ट्रीय इकाइयों को जन्म दिया। आज इस बात पर अधिकांश विद्वान सहमत हैं कि 'राष्ट्र' का विकास पूँजीवाद के विकास की प्रक्रिया जनता के राष्ट्र रूप में परिवर्तन की भी प्रक्रिया रही थी।[90] कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर भी स्वीकार करते हैं कि समान आर्थिक आकांक्षाएँ एक प्रबल शक्ति के रूप में कार्य कर रही थीं।[91] राष्ट्र की अवधारणा पर विचार करते हुए यह महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर होता है कि दुनिया के लगभग सभी राष्ट्र किसी-न-किसी रूप में अपनी मुक्ति की लड़ाई लड़ते हुए भी अपना-अपना आकार पा सके। राष्ट्रों के जन्म के समय उभरी राष्ट्रीयता और विकसित हुआ राष्ट्रवाद अगर फाँसीवाद बन जाए तो बहुत दुखद होगा।

राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद की अवधारणा

व्युत्पत्ति की दृष्टि से अगर देखा जाए तो Nation (राष्ट्र) और Nationality (राष्ट्रीयता) में कोई विशेष अंतर नहीं है। इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के नेशियों शब्द से हुई है। फिर भी दोनों के अर्थ में भिन्नता पाई जाती है। राष्ट्रीयता के बारे में भिन्न-भिन्न विचारकों का भिन्न-भिन्न तरह से देखते हैं-

गिलक्राइस्ट के अनुसार - राष्ट्रीयता का अभिप्राय एक अध्यात्मिक भावना से है, जो उस जन-समुदाय में पाई जाती है, जिसके कारण सदस्य एक मूल वंश के हों; एक ही भूखण्ड पर निवास करते हों; आर्थिक हित समान हो और जो राजनीतिक एकता के समान आदर्श रखते हों।

एक दूसरे विचारक जिर्मन के अनुसार - राष्ट्रीयता मेरे दृष्टिकोण से राजनीतिक प्रश्न नहीं है, वरन् आवश्यक रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता धर्म की तरह एक आंतरिक भावना है - यह आध्यात्मिक धारणा है तथा अनुभव करने और रहने का एक तरीका है।

विश्व प्रसिद्ध विचारक मैकाइवर के अनुसार - राष्ट्रीयता कुछ मनुष्यों की साथ रहने की भावना है।

बलंश्ली राष्ट्रीयता के विषय में अपना विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि - राष्ट्रीयता एक परम्परागत मनुष्य समाज है, जिसमें विभिन्न व्यवसाय के लोग सम्मिलित होते हैं और जिनके विचार ,भाव तथा स्वभाव एक समान हों, जिनका एक जातीय मूल हों, जिनकी भाषा, रीति-रिवाज तथा सभ्यता समान हो और जो उन्हें एकता की भावना से परिचित कराता हो तथा जो अन्य विदेशियों से बिल्कुल भिन्न हों।

प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री प्रो. लास्की की दृष्टि में, "राष्ट्रीयता की भावना में एक विशेष प्रकार की भावना समाहित है, जो इसमें भाग लेने वाले को शेष मानव जाति से अलग करती है। यह एकता, एक ही इतिहास, संयुक्त प्रयास से प्राप्त विजयों और संयुक्त प्रयास से निर्मित परम्पराओं का परिणाम है। इसमें रक्त संबंध की भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे मानव एक सूत्र में बँध जाते हैं। वे अपने पारस्परिक सादृश्य को स्वीकार करते हैं, और वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि वे दूसरे देशों से भिन्न हैं।

दार्शनिक जे. एस. मिल का मानना है कि - मानव जाति के एक भाग को राष्ट्रीयता कहा जाता है, यदि वह सामान्य सहानुभूति द्वारा बँधा हों।

विचारक रोज के अनुसार - राष्ट्रीयता एक जनसमूह है, जो अभी राजनीतिक रूप से संगठित नहीं है तथा अपने आदर्श रूप से एक संगठित राष्ट्र के रूप में रहने की अभिलाषा है।

निम्न विचारकों के कथन से स्पष्ट होता है कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता की तरह ही राष्ट्रवाद भी एक आधुनिक अवधारणा है। राष्ट्रीयता विकसित होने के बाद ही किसी राष्ट्र में राष्ट्रवाद का जन्म होता है। विचारकों की राय में यह एक

भावात्मक शक्ति हैं। प्रो. ग्रास के अनुसार - "राष्ट्रवाद एक प्रकार की सामूहिक भावना है, जिसका आधार विभिन्न प्रकार की एकताएँ एवं समानताएँ हैं। जिनका संबंध प्रधानतः राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति या विकास से हैं।"[92] बेनेडिक्ट एण्डरसन आधुनिक राष्ट्रवाद को पूँजीवाद से जुड़े मुद्रण की मदद से निर्मित कल्पित समुदाय मानते हैं।[93] कुछ लोगों का मानना है कि राष्ट्रवाद वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा राष्ट्रीयताएँ राजनीतिक इकाइयों के रूप में परिवर्तित होती हैं। किसी जनसमूह का यह औचित्यपूर्ण अधिकार हैं कि यदि वह एक पृथक तथा सुदृढ़ राष्ट्र या राष्ट्रीयता निर्मित कर लेता है तो उसे संसार में अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए प्रदेश मिलना चाहिए।[94]

राष्ट्रवाद को लेकर विद्वानों में पर्याप्त सहमतियाँ तथा असहमतियाँ हैं। राष्ट्रवाद की ठीक-ठीक परिभाषा करना संभव नहीं है। यदि देखा जाय तो आधुनिक काल में इसने एक धर्म का रूप धारण कर लिया है। शिलिटो इसे 'मनुष्य का दूसरा धर्म कहता हैं।'[95] यह वह आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक मनःस्थिति है, जिसका उद्देश्य किसी जनसमूह में संगठित तथा चेतनामूलक राष्ट्रत्व की पूर्ण प्राप्ति करना होता है। लार्ड हेज़ के शब्दों में, "राष्ट्रीय राज्य तथा राष्ट्रीय देशभक्ति का एक विचित्र सम्मिश्रण है।"[96] सी. डी. बर्न्स के अनुसार - "यह एक मनोविकारमय राजनीतिक धारणा है, जिसका प्रत्यक्ष संबंध शक्ति के लिए संघर्ष के साथ है, जिसके अंतर्गत राज्य की वैयक्तिकता का सम्मान किया जाता है और जो कानून तथा शासन की विविधता को मान्यता देती है, साथ ही समान आदर्शों तथा विश्वासों के आधार पर विभिन्न जन-समूहों को पृथक् करती है।"[97] इस प्रकार राष्ट्रवाद को एक राजनीतिक भावना तथा ऐतिहासिक प्रकिया के रूप में मानना चाहिए।

प्रो. ए. डी. आशीर्वादम् ने लिखा है, "अनेक विचारक राष्ट्रवाद के बहुत बड़े प्रशंसक और भक्त हैं। वे इसमें अच्छाइयाँ ही अच्छाइयाँ पाते हैं। पर दूसरे लोगों का कहना है कि राष्ट्रवाद अपने वर्तमान रूप में अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सद्भावना की सबसे बड़ी शत्रु है।"[98] कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने निबंध 'नेशनलिज्म' में स्पष्ट तौर पर राष्ट्रवाद को बुरा कहा है। वे राष्ट्रवाद को समूची जाति का सामूहिक और संगठित स्वार्थ, आत्मपूजा, स्वार्थी उद्देश्यों के लिए राजनीतिक और व्यवसाय का संगठन, शोषण के लिए संगठित शक्ति, आदि

विशेषणों से नवाजते हैं। राष्ट्रवाद देशों के आपसी संबंधों में कड़वाहट पैदा करता है। हेज़ ऐसे राष्ट्रवाद की निन्दा करते हैं जिसमें अपने देश पर अभिमान और गर्व किया जाता है और दूसरे राष्ट्रों से द्वेष किया जाता है। उनके अनुसार उन्नीसवीं और बीसवीं शती में राष्ट्रवाद का इतिहास गौरवपूर्ण नहीं रहा है।[99] राष्ट्रवाद भावात्मक, संवेगात्मक और प्रेरणामूलक है। किसी भी धर्म की अपेक्षा इसके कहीं अधिक कट्टर अनुयायी हैं। यह संसार के लिए एक संदेश रखने का दावा करती है।[100] कहना न होगा कि आधुनिक युग में राष्ट्रवाद के नाम पर व्यापक तबाही भी आयी है। लाखों लोग इसके शिकार होकर नष्ट हुए हैं। राष्ट्रवाद ने घृणा को बढ़ावा दिया है।

राष्ट्रवाद की ठीक-ठीक व्याख्या तब तक नहीं की जा सकती, जब तक सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी उसकी व्याख्या न की जाय। अगर ध्यान दिया जाय तो यह बात सामने आती है कि संस्कृति में तो राष्ट्रवाद ने एकता कायम की है पर आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में इसने भेद ही पैदा किया है। अपने चरम रूप में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्देश्य आर्थिक आत्मनिर्भरता ही होता है। लेकिन आर्थिक राष्ट्रवाद ज्यों ही एक सीमा को पार करता है, त्यों ही युद्ध की शुरुआत का कारण बन जाता है। आशीर्वादम् लिखते हैं, "आर्थिक आत्मनिर्भरता मूर्खता है। पिछले वर्षों में कनाडा में गेहूँ के जलाए जाने, अमेरिका में सेब और दूध को नदियों में बहाए जाने और ब्राजील में कॉफी समुद्र में फेंके जाने के दृश्य हमने उस समय देखे हैं, जब संसार के दूसरे देशों में लाखों व्यक्ति भूख से मर रहे थे।[101]

हमें अच्छे और बुरे राष्ट्रवाद का अन्तर समझने की कोशिश करनी चाहिए। अच्छा राष्ट्रवाद वही हो सकता है, जो 'जियों और दूसरों को जिलाओं' के सिद्धांत में विश्वास रखता है। ऐसा राष्ट्रवाद आत्मसम्मान का प्रतीक होता है।

प्रेमचंद के समय में राष्ट्रवाद की एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जिसे न भूला जा सकता है और न ही नष्ट किया जा सकता है। इससे कुछ सीख ली जा सकती है। कहना न होगा कि यह प्रेरणामूलक है और इसकी जड़े कबाइली मनोंवृत्ति में है। एक यहूदी अमेरिकी लेखक के अनुसार, लोग अपनी राजनीति को, अपनी पत्नियों को, अपने धर्म को और अपने दार्शनिक सिद्धांत को बदल सकते

हैं, पर अक्सर देखा जा रहा है कि आजकल जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है, वह एक 'अंध देशभक्ति' अथवा 'जंगली देशभक्ति' से ज्यादा कुछ नहीं है। कितना सुंदर होता है कि राष्ट्रवाद स्वस्थ देशभक्ति का पर्याय होता और मनुष्यता के विकास के लिए कार्य करता है।

पश्चिम में राष्ट्रवाद

प्रेमचंद जी ने पश्चिम के राष्ट्रवाद के बारे में भी विचार विमर्श किया है। राष्ट्रवाद इतिहास की देन है। मध्ययुग से ही इसकी झलक मिलती है। मध्ययुग के प्रारम्भ में राष्ट्रवाद का विकास सामंती व्यवस्था के चलते नहीं हुआ, लेकिन सामंतवाद की समाप्ति के बाद राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। अनेक विद्वानों, विचारकों और दार्शनिकों ने अपनी रचनाओं से राष्ट्रवाद का प्रचार-प्रसार किया। दाँते, मेकियावेली, चासर, जान ऑफ आर्क इत्यादि ऐसे ही लोगों की श्रेणी में आते हैं।

यूरोप में रोमन काल तथा मध्ययुग में राष्ट्रवादी विचारधारा के विकास को प्रोत्साहन नहीं मिला, क्योंकि इन युगों में सार्वभौम विश्व-राज्यों के निर्माण की दिशा में प्रयत्न हुए। रोमन साम्राज्य एक विश्वव्यापी राज्य का स्वप्न देखता था। इसी प्रकार मध्ययुग में भी समस्त राजनीतिक चिन्तन एक विश्वव्यापी ईसाई राज्य की कल्पना में केन्द्रीभूत रहा। परन्तु ईसाई धर्म संस्थापकों तथा धर्मोपदेशकों की पोपलीला उनके विश्वव्यापी राज्य के स्वप्न को साकार करने में सफल नहीं हो पाई। यूरोप के विभिन्न देशों की जनता में राष्ट्रीयता की भावना बढ़ने लगी। बाद में इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स, स्पेन आदि विभिन्न देशों में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हो गई और उनके अपने अलग चर्च भी स्थापित हो गए। इन्होंने पोप की सत्ता को अस्वीकार कर दिया। इटली की एकता भी छिन्न-भिन्न हो गई। ऐसे कठिन समय में वहाँ के विख्यात राजनीतिक विचारक मैकियाबेली की विचारधारा में आधुनिक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ।

मैकियाबेली ने धर्म को राजनीति से पृथक् रखा और उसका एकमात्र हित इटली को सुदृढ़ राष्ट्रीय राज्य के रूप में निर्मित करना था। सोलहवीं शताब्दी से

लेकर अठारहवीं शताब्दी तक यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों का विकास होने लग गया था। इस बीच निरंकुश तंत्रों की स्थापना ने जनता में एकता तथा कानून के समक्ष समानता की भावना को दृढ़ किया; व्यापार तथा व्यवसाय की उन्नति ने राज्यों के प्रादेशिक विस्तार की भावना में वृद्धि की; राष्ट्रीय भाषा तथा साहित्य के विकास ने जनता की राष्ट्र-प्रेमी भावना को बढ़ावा दिया और उसके कारण विशिष्ट राष्ट्रीय संस्कृतियों का विकास होने लगा। इसी बीच अमेरिका तथा पूर्व के देशों के लिए नए समुद्री मार्गों की खोज हो जाने से यूरोपीय औद्योगिक देशों में अपने व्यापार की उन्नति के लिए नए उपनिवेश को बढ़ाने की प्रतियोगिता ने उनके मध्य संघर्ष तथा राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में मदद दी। अनेक राजनीतिक विचारकों ने स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता तथा लोक-सम्प्रभुता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाने में पर्याप्त योगदान दिया।[102]

आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास में सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ 1772 ईस्वीं में पोलैण्ड का विभाजन और फ्रान्स की राज्यक्रांति थीं। जिसे गलत ढंग से पोलैण्ड का बँटवारा किया गया था, उसे 'गार्नर' ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "पोल जाति को आक्रमणों के मध्य विभाजित किया गया, परन्तु वे एक राष्ट्र बने रहे, भले ही उसका एक राज्य न था और इस प्रकार के विभाजन ने जिस चिनगारी को सुलगाया, वह कभी बुझने वाली न थी।"[103] फ्रान्स की राज्य-क्रांति ने राष्ट्रवाद के विकास को सर्वाधिक सहायता प्रदान की। इस संबंध में 'हान्सकोन' ने लिखा है, "वर्तमान युग जिसका आरम्भ फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति से हुआ, पिछले सभी युगों से विलक्षण है; क्योंकि इसी काल में राष्ट्र मानव की सर्वोच्च भक्ति का लक्ष्य बना।"[104] इसके बाद नेपोलियन के युद्धों तथा औद्योगिक क्रान्ति ने राष्ट्रवाद की भावना को विकसित किया।

एरिक हाब्सवाम के अनुसार – पूँजीवाद में प्रतिस्पर्धा आई और औद्योगिक क्रान्ति से एक और मोड़ आया, जिसने राष्ट्रवाद के विकास में पर्याप्त मदद की। इसी दौर में यह भावना पैदा हुई कि देश की सम्पत्ति देश के ही भीतर रहें। देशों के बीच सोना इकट्ठा करने की होड़ मच गई थी। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उभरते मध्य वर्ग और व्यापारिक वर्ग ने राष्ट्रवाद को फायदे की चीज़ समझते हुए इसके विकास में योगदान किया। औद्योगिक विकास और पोप की सत्ता को अस्वीकार कर ईसाईत एक नए रूप के खोज में थी।

पश्चिम में फ्रान्स की क्रान्ति के परिणामस्वरूप जर्मनी और इटली में शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण हुआ। जर्मनी में आरम्भ में, फिचे तथा हिगेल ने राष्ट्रीयता की भावना को उत्तेजित किया और बाद में 'बिस्मार्क' ने राष्ट्रवाद की भावना को मूर्त रूप दिया। इटली में यहीं काम 'मेजिनी' ने किया। मेजिनी के अनुसार, "मेरे लिए राष्ट्रवाद एक ऐसी पवित्र भावना है, जो मानव हित तथा मानव प्रगति का समीकरण है।"[105]

इटली में राष्ट्रवाद का विकास अथवा पतन फॉसीवाद के रूप में हुआ। फॉसीवाद के प्रणेता मुसोलिनी का कहना था, "सब कुछ राज्य के अन्दर ही है, राज्य के बाहर या राज्य के विरोध मे, कुछ भी नहीं है।"[106] इटली के उन्मादी राष्ट्रवाद ने लोकतंत्र और शान्ति के विरोध के साथ ही बुद्धिवाद और समाजवाद का भी विरोध किया।

मेजिनी ने अपने राष्ट्रवाद के सिद्धांत को प्रस्तुत करते हुए लिखा है, "हमारा देश हमारा घर है। वह घर जो परमात्मा ने हमें दिया है, जिसमें उसने अनेक परिवार रखे हैं, जो परिवार हमें प्यार करते हैं। एक ऐसा परिवार जिसके साथ एक दूसरे की अपेक्षा हम अधिक तत्परता से सहानुभूति रखते हैं और जिसे हम दूसरों की अपेक्षा अधिक आसानी से समझ पाते हैं और जो एक निश्चित प्रदेश में रहने के कारण और अपने तत्त्वों को सजातीयता के कारण एक विशेष प्रकार की क्रियाशीलता के लिए उपयुक्त है।"[107] मेजिनी के अनुसार ही - हमारा देश हमारी कर्मशाला है, जहाँ से श्रम का उत्पादन पूरे संसार के लाभ के लिए बाहर भेजा जाता है और जहाँ वे सभी उपकरण औजार इकट्ठे किए गए हैं, जिनका हम बहुत अधिक सफलता के साथ उपयोग कर सकते हैं।"[108] यहाँ राष्ट्रवाद में प्रजाति (रेस) के विषय में यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि मुसोलिनी प्रगति की भावना मानता था, वास्तविकता नहीं। उनके अनुसार, यह संभव ही नहीं है कि कोई प्रजाति शुद्ध हो। जोसेफ़ के अनुसार- राष्ट्रीयता वास्तव में प्रजातियों के आर-पार निकल जाती है।[109] कुछ लोगों का कहना है कि राष्ट्रीयता की प्रजाति (रेस) की सृष्टि करती है, प्रजाति राष्ट्रीयता की सृष्टि नहीं करतीं।[110]

जर्मनी में विकसित राष्ट्रवाद ने एक प्रजाति, एक संस्कृति और एक भाषा को महत्त्व दिया। इस क्रम में प्रभावशाली भाषा और संस्कृति ने छोटी भाषाओं

और अल्पसंख्यक संस्कृति को दबाने का प्रयास किया। जर्मन राष्ट्रवाद ने अपनी सर्वश्रेष्ठता का नारा दिया। अर्नेस्ट गेलनर के अनुसार, इसमें विडम्बना रही कि लोक संस्कृति की आड़ में उच्च संस्कृति का सृजन करके और उसी को महत्त्व देकर उसी के आधार पर राष्ट्र का सृजन किया गया।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में अबोल्फ़ हिटलर ने जर्मन राष्ट्रवाद को अति की ओर अग्रसर किया। जर्मनी से यहूदियों को निकाला गया। वहाँ अपनी प्रजाति की श्रेष्ठता को पूरे विश्व पर हावी करने की कोशिशें हुईं। हिटलर ने कहा, जिनकी धमनियों में शुद्ध रक्त प्रवाहित नहीं होता, उनका क्या महत्त्व?[111] उन्होंने कहा कि ऐसे लोग कोरे 'भूसे' के समान है और 'भूसे' से उसका तात्पर्य जर्मनी के यहूदियों से था। हिटलर की मान्यता थी कि प्रकृति ने पृथ्वी पर दो प्रकार के मूल वंशों की रचना की है - शक्तिशाली और दुर्बल।[112] प्रकृति इनमें संघर्ष की माँग करती है और श्रेष्ठतर के विजय को सुनिश्चित करती है। हिटलर की 'वोक' की अवधारणा से यह और भी स्पष्ट होता है।

हिटलर की राजनीतिक विचारधारा में अन्तर्निहित मूलभूत तत्त्व को उसके जर्मन राष्ट्रवाद की संरचना में देखा जा सकता हैं। इसे उसने 'वोक' के नाम से पुकारा जाता है।[113] सीधी-सीधी भाषा में 'वोक' का अर्थ होता है, एक ऐसा राष्ट्रीय समुदाय जो रक्त एवं मूलवंश के आदिम संबंधों में बँधा हुआ हो।[113] आकस्मिक नहीं है कि हिटलर ने अपनी आत्मकथा के आरम्भ में, लिखा है कि हमारे रक्त की समानता हमारे एक राज्य का आधार है और इसी पुस्तक के अन्त में लिखा है, "पृथ्वी का शासन अन्तिम रूप से वह राज्य करेगा जो अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मूलवंशीय तत्त्वों की रक्षा के लिए अर्पित करेगा।"[114] हिटलर ने उद्योगपतियों को साथ लिया, श्रमिकों को काम देने का वादा किया और मध्यवर्ग को एक शक्तिशाली राष्ट्र का स्वप्न दिया। इसी को उसने नारे के रूप में इस्तेमाल किया। कहना न होगा कि, यह जर्मन राष्ट्रवाद एक सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद के अतिरिक्त कुछ न था। प्रो. आशीर्वादिम् ने बिल्कुल ठीक ही लिखा है, "अपने को दूसरों से अलग रखने वाली राष्ट्रीयता और अपनी प्रजाति को सबसे अच्छी मानने की भावना आधुनिक संसार के अभिशापों में से की है।"[115]

'पूँजीवादी राष्ट्रवाद' के साथ ही 'साम्यवादी राष्ट्रवाद' की भी बात की जाती हैं। यहाँ पर एक बात स्पष्ट है कि मार्क्सवाद के अनुसार - राष्ट्रवाद पूँजीपति वर्ग का छद्म है। पूँजीपति वर्ग इससे अपने स्वार्थ को सिद्ध करता है। लेनिन ने क्रान्ति का संचालन एक सीमित क्षेत्र में किया, लेकिन नारा पूरे विश्व में सर्वहारा की एकता का दिया। लेनिन का मानना था कि साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद पश्चिम के संदर्भ में, एक दूसरे के पूरक हैं। यहाँ यह बताने की जरूरत नहीं है कि 'सोवियत राष्ट्रवाद' एक 'श्रमिक राष्ट्रवाद' हैं। इसमें पूँजीवाद की कोई भी भूमिका नहीं है। मार्क्सवाद ऐसे राष्ट्रवाद की धारणा प्रस्तुत करता है, जो साम्राज्यवादी राष्ट्रवाद के विरुद्ध होगा। वर्तमान समय में चीन, क्यूबा और वियतनाम जैसे राष्ट्रों में 'श्रमिक राष्ट्रवाद' की झलक मिलती है।

आज की दुनिया में राष्ट्रवाद एक परिचित अवधारणा है। बेनेडिक्ट एण्डसन ने रेखांकित किया है कि पूरी दुनिया में राष्ट्रवाद के फैलने के दो महत्त्वपूर्ण कारण रहे हैं। पहला प्रिन्ट कैपिटलिज्म (छापे की संस्कृति) और दूसरा 'क्रियोल राष्ट्रवाद'। एण्डरसन का मानना है कि क्रियोल ने संदर्भ और परिस्थितियों में 'राष्ट्रवाद' को परिभाषित किया। इसी प्रकार छापे की संस्कृति ने राष्ट्रवादी अवधारणा को पूरी दुनिया में फैलाने में मदद पहुँचाई।

आज राष्ट्रवाद का इतिहास दुनिया के सामने है। इसने दुनिया को सुन्दर बनाने की अपेक्षा, उसे विद्रूप ही बनाया है। इसलिए हम "फ्रेज़ ग्रिल पार्नर द्वारा बताए गए 'मानवता से राष्ट्रवाद और राष्ट्रवाद से पाशविकता' वाले क्रम से अपने को बचाना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि संसार के सभी राष्ट्र एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का, सक्रिय अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का और मैत्री का विकास करें।"[116]

भारत में राष्ट्रवाद

राष्ट्र की अवधारणा पर विचार करते हुए प्रेमचंद जी की यह बात जरूर सामने आती है कि राष्ट्रवाद एक आधुनिक अवधारणा है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीय राष्ट्रवाद भी एक आधुनिक अवधारणा ही है। फिर भी भारत में राष्ट्रवाद के विकास पर बात करते हुए यह जरूरी है कि हम भारत के इतिहास में यह देखने की कोशिश करें कि प्राचीनकाल में राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रवाद की क्या अवधारणा थी और इसका स्वरूप क्या था?

भारत में राष्ट्रवाद पर विचार करते हुए एक बात तो स्पष्ट ही है कि " राष्ट्र की धारणा, जहाँ एक राजा होता है, जो हर राष्ट्र से पृथक और प्रतिस्पर्धी होता है, भारत के पास नहीं थी। न उसकी धर्मधारणा ही ऐसी एकांत थी। धर्म अक्सर अमुक व्यक्ति और सिद्धांतवाद को लेकर गठित होता है; उसी प्रकार राष्ट्र एक राजा और एक केन्द्रस्थ शासन-तंत्र को लेकर रूप पाता है। ये दोनों धारणाएँ भारतीय स्वत्व के लिए आवश्यक नहीं हुई। धर्म भी यहाँ जीवन्त रहा। इसी तरह देश भी गरिमामय बना।"[117] एक बात तो अवश्य ही बतायी जानी चाहिए, वह यह कि अलग-अलग धर्म, जीवन-मूल्य और जाति के बाद भी भारत में एक राष्ट्र बनने की ललक थी। विचार करने योग्य है कि दक्षिणपंथी विचारक और राजनेता पण्डित दीन दयाल उपाध्याय लिखते हैं, "कोट्यावधि मानव राष्ट्र के रूप में भी किसी कृत्रिम उपाय से एकत्र नहीं हो सकते। उनके जीवन की एकसूत्रता, मातृभूमि के प्रति समान प्रेम, समान शत्रु-मित्र भाव तथा उनसे बढ़कर जीवन की इतिकर्तव्यता के संबंध में समान भाव किसी बाह्य प्रचार तन्त्र के द्वारा उत्पन्न नहीं किए जा सकते। राष्ट्र जीवन में दिखने वाली समानताएँ किसी अन्तर्निहित चेतनतत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं।"[118] डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल की मान्यता है, "और अनेक के बीच एक को निःसंशय भाव से अन्तरतम रूप में प्राप्त किया है। भारतवर्ष ने बाहर के समस्त प्रतीयमान पार्थक्य को नष्ट किए बगैर उसके अंदर के निगूढ़ योग पर अधिकार किया है।"[119] भारत की सांस्कृतिक एकता की व्याख्या करते हुए अग्रवाल जी कहते हैं कि, "सुदूर मालाबार के शंकराचार्य, तमिल के कम्बन, महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर, असम-बंगाल के चैतन्य, उत्तरापथ के वाल्मीकि और तुलसीदास, बिहार

के बुद्ध और महावीर, राजस्थान की मीराबाई, काश्मीर की लल्लेश्वरी, गुजरात के नरसी मेहता, पंजाब के गुरुनानक - इन सबकी सांस्कृतिक भाषा एक हैं।"[120] इन बातों में जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह कि बदलते समय ने भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत में वर्ण व्यवस्था सामाजिक एकता में बाधक थी। वह भी किसी-न-किसी रूप में टूटती रही। रामधारी सिंह 'दिनकर' का यह कहना बहुत दूर तक उचित ही जान पड़ता है कि "मुस्लिम काल तक आते-आते जब वर्ण-व्यवस्था चरमरा उठी, तब इस्लामिक तसब्बुफ और हिन्दू भक्ति आंदोलन के माध्यम से एकता बनाने के प्रयत्न हुए। इस समय भारतीयकरण की आवश्यकता निवृत्तिवादी विचारधारा के अन्वेषण से पूरी की गई।"[121] राष्ट्र के रूप में भारत पर विचार करते हुए यह स्पष्ट है कि भारत प्राचीनकाल से ही विभिन्नताओं का देश रहा है। पृथ्वी सूक्त का एक मंत्र इस बात को प्रमाणित करता है -

"जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं
अनाधमर्णिं पृथिवी यथौकसम्।"[122]

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार, "यह मंत्र भारत की राष्ट्रीय संस्कृति का संविधान पत्र है। यह तथ्य केवल पुस्तकों का विषय नहीं रहा, अपितु लोकजीवन के रोम-रोम में बिंध गया है।"[123]

इन सारी बातों के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय भारत में राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था। यहाँ पर हमें इस बात का पता चल जा रहा है कि यह अभाव भी व्यावहारिक ही था, सैद्धान्तिक नहीं क्योंकि सैद्धांतिक रूप से "इस महादेश के विभिन्न भागों में एक व्यापक सांस्कृतिक एकता वर्तमान थी; इसीलिए एक प्रान्त का निवासी दूसरे प्रान्त के निवासी को - जैसे लाट (गुजराती), गौड़ (बंगाली) को अथवा कर्नाटकी कश्मीरीं को परदेशी नहीं समझता था। प्रान्तीय विभिन्नताओं का विकास धीरे-धीरे हो रहा था, पर वे इतनी प्रबल न हो पाई थीं कि देश के विभिन्न भागों में स्थापित स्वतंत्र राज्य पड़ोसी राज्य के निवासियों को परदेशी मानकर उन पर रोक-टोंक लगाते। गुजरात के राजा महाराष्ट्र के ब्राह्मणों को दान देते थे। कश्मीरी पंडित कर्नाटक में कवि बन सकते थे और दक्षिणात्य सैनिक उत्तर हिन्दुस्तान के राजाओं की सेना में भर्ती होते थे। यह सब

इसलिए संभव था कि राजनीतिक दृष्टि से अनेक स्वतंत्र राज्यों में विभाजित होने पर भी देश में सांस्कृतिक एकता की भावना थी।"[124] स्वामी विवेकानंद ने 'राष्ट्रीयता' में धर्म और अध्यात्म की भूमिका को रेखांकित करते हुए ही लिखा है, "प्राचीन भारत में बौद्धिकता और आध्यात्मिकता ही राष्ट्रीय जीवन की केंद्रबिन्दु थी, राजनीतिक गतिविधियाँ नहीं। आज की भाँति अतीत में भी बौद्धिकता तथा आध्यात्मिकता की राष्ट्रीय जीवन की केंदबिन्दु थी, राजनीतिक गतिविधियाँ नहीं। आज की भाँति अतीत में भी बौद्धिकता तथा आध्यात्मिकता की तुलना में सामाजिक और राजनीतिक शक्तियाँ गौण रहीं। ऋषियों में आध्यात्मिक उपदेशकों के आश्रमों के इर्द-गिर्द राष्ट्रीय जीवन का प्रस्फुटन हुआ। इसीलिए उपनिषदों में भी हमें पांचालों काश्यों (बनारसियों), मैथिलों एवं मगधियों आदि की समितियों का वर्णन अध्यात्म, दर्शन तथा संस्कृति के केंद्र के रूप में मिलता है। फिर ये ही केंद्र क्रमशः आर्यो की विभिन्न शाखाओं की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के संगम बन गए।"[125] प्रसंग वश यहाँ एक शास्त्र मत भी उल्लेखनीय हैं।, "राष्ट्र की रक्षा देश धर्म, कुल धर्म और जाति धर्म की रक्षा से ही होती है और राष्ट्र की सुरक्षा में ही धर्म की स्थापना भी संभव हैं।"[126]

भारत में राष्ट्रीयता का जन्म और विकास में मातृभूमि के प्रति इस प्रेम को हम ऋग्वेद के नदी सूक्त में, देख सकते हैं :-

"इमे में गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रिस्तोमं सचता परुष्ण्या।

असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये श्रृणुह्या सुषोमया।।"[127]

डा. राधाकुमुद मुकर्जी की टिप्पणी है, "निश्चय ही पितृभूमि को एक अभिभाज्य इकाई के रूप में देखने के लिए इससे अधिक अच्छा और सरल, अधिक प्रभावोत्पादक और हृदय को प्रेरणा देने वाला सूत्र नहीं बनाया जा सकता। इससे मृश्चक्षु के सामने वैदिक भारत का चित्र आ जाता है और इसके पीछे लोगों में अपने देश की आधारभूत एकता की भावना जगाने का कवि का जो प्रयोजन है, वह एक निराली रूप से पूरा हो जाता है।"[128] मनुस्मृति में एक श्लोक पितृभूमि की महिमा को वर्णित करता है। उस श्लोक में ब्रह्मवर्त देश की सीमाएँ बताई गयी हैं और उसे देवताओं द्वारा निर्मित देश बताया गया है।[129] मनुस्मृति का यह संदर्भ

काव्य का एक रूपक मात्र नहीं है, बल्कि सारे देश में व्याप्त और गहराई से अनुभव की जाने वाली राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति हैं।[130]

प्राचीनकाल में भारतीय राष्ट्रीय चेतना के संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि "यूरोप में ऐसा कोई देश नहीं है, न समूचे यूरोप की कोई काव्य परम्परा ऐसी है, जहाँ प्राचीन भाषा से लेकर विभिन्न आधुनिक भाषाओं तक में अनेक युगों और अनेक प्रदेशों में, इस प्रकार किसी राष्ट्र का स्तवन किया गया है। अब इस बारे में कोई संदेह न रह जाना चाहिए कि प्राचीनकाल में यहाँ अखिल भारतीय राष्ट्रीय चेतना विद्यमान थी; वह उस युग में थी, जिसे मध्यकाल कहते हैं और वह आधुनिक काल में हैं। यह भावना उस समय थी, जब राष्ट्र के अन्तर्गत गण-समाज और लघु जातियाँ हैं, जो सामाजिक विकास क्रम में नए जातीय जीवन की ओर अग्रसर हो रही हैं।[131] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि "दो हजार से भी अधिक वर्ष पूर्व भारत में आज की किसी पाश्चात्य देश जैसी राष्ट्रीय एकता का अस्तित्व तो नहीं था, परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि भाषा, जाति और कुछ हद तक संस्कृति का अंतर रहते हुए भी सामान्य धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता ने और एक ही सम्राट की प्रजा होने की चेतना ने एकता की ऐसी भावना को उद्बुद्ध किया होगा जिसे 'राष्ट्रीयता' शब्द से व्यक्त किया जा सकता है।"[132] इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में एक राष्ट्र होने की चेतना प्राचीनकाल से ही थी और ऐसी ही चेतना भारतीय राष्ट्रवाद का प्राथमिक आधार बनी होगी।

"आज हम जिस भारतीय राष्ट्रवाद की बात करते हैं, उसका जन्म राजनीतिक पराधीनता के दिनों में हुआ था। अंग्रजों के शासन-दमन के कारण भारतीय समाज में उपस्थित भावनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ कारकों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही भारतीय राष्ट्रवाद अस्तित्व में आया।"[133] भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म वस्तुतः नयी सामाजिक-भौतिक स्थितियों के कारण हुआ था। उन नयी सामाजिक शक्तियों के कारण जो अंग्रजों के भारत विजय के बाद पैदा हुई। यह विभिन्न प्रकार के स्वार्थो के वस्तुनिष्ठ संघर्ष का परिणाम था, "अंग्रेजों का स्वार्थ जो भारत को राजनीतिक और आर्थिक तौर पर गुलाम बनाए रखने में था और भारतीय जनता का हित जो ब्रिटिश शासन से मुक्त भारतीय समाज के स्वतंत्र राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में निहित था।"[134] भारतीय राष्ट्रवाद

के विकास में जिन स्थितियों का हाथ रहा, उन पर टिप्पणी करते हुए श्री देसाई लिखते हैं, "भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की पृष्ठभूमि की खासियत यह है कि विशेषतः हिन्दू समाज और सामान्यतः सारा भारतीय समाज खण्डित और विभाजित रहा है। किसी भी अन्य देश में राष्ट्रवाद का उदय ऐसी नितान्त शक्तिशाली परम्पराओं और संस्थाओं के संदर्भ में नहीं हुआ। ----- संसार के किसी भी अन्य देश की अपेक्षा भारत में भूतकालीन सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संरचना की आत्मरक्षात्मक इच्छाशक्ति अधिक प्रबल रही है।"[135]

भारतीय राष्ट्रवाद के उदय में जिन कारकों ने भूमिका निभाई, उनमें आवागमन के आधुनिक साधनों का विकास, आधुनिक शिक्षा का विकास, समाचार-पत्रों का प्रकाशन, जातिप्रथा का विरोध, छुआछूत का विरोध और राजनीतिक आंदोलनों के उद्भव महत्त्वपूर्ण हैं। भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन के बाद यह बिल्कुल साफ है कि भारत में आधुनिककाल (लगभग 1850 ईस्वीं के बाद का समय) से पहले आवागमन के साधन बिल्कुल पुराने ढंग के थे। बैलगाड़ियाँ, घोड़े और नाव जैसे साधन ही जीवन पार लगाते थे। "अधिकांश लोग अलग-अलग गाँवों में रहते थे।

साधारण आकार और अधिक मूल्य की कुछ चीजों जैसे औषधि, रेशम और बेशकीमती पत्थर जो आसानी से एक जगह से दूसरी जगह ले जाए जा सके हैं और फिर कुछ भारी-भरकम सामान जैसे लोहा और नमक जिनकी कम मात्रा में ही सही, लेकिन सबको जरुरत पड़ती है। इनके अतिरिक्त बाकी सब चीजों के लिए गाँववाले गाँव की ही उपज पर निर्भर थे। विभिन्न समुदायों में विशिष्टीकरण का भाव था, इसलिए वस्तुओं और व्यक्तियों का आवागमन नहीं के बराबर था। खेतों से फसल घर ले जाना और उसका कुछ अंश निकटस्थ व्यापार केंद्र तक पहुँचाना, वस्तुओं का मात्र इतना ही स्थानान्तरण आवश्यक था और यह कार्य लोग सामान को आदमियों के सिर पर या जानवरों की पीठ पर ढो कर किया करते थे। कभी-कभी जब दूर जाना होता था तो सूखे के मौसम में बैलगाड़ियों का इस्तेमाल किया जाता था। कुछ इलाकों में खासकर बंगाल में, नदियों गंगा एवं ब्रह्मपुत्र के मुहाने पर स्थित खाड़ियों में नजदीकी और दूर की भी यात्रा पानी के रास्ते होती थी। उत्तर और पशिचम के इलाकों में गंगा और सिन्धु और दक्षिण में कृष्णा और गोदावरी के रास्ते छोटे-छोटे यान भीतर के इलाकों तक पहुँच जाते थे। मुगलकाल

में राजधानियों को मिलाने वाली कुछ गंदी सड़कें थीं और अंग्रेजों ने भी शासक से पहले सड़कें नहीं बनवाई।"[136] ऐसी परिस्थितियों में भी रेलवें और मोटर बसों के आवागमन और प्रसार से भारतीय जनता के राष्ट्रीय समेकन में काफी मदद मिली।[137] वैसे इतिहास बहुत ही दिलचस्प प्रसंगों से भरा है।

अंग्रेजों ने जिन साधनों का विकास शोषण करने और अपना शासन मजबूत करने के लिए किया, वे ही साधन भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में सहयोगी बनकर उनके विरुद्ध चले गए। यह तथ्य हमें याद करना ही होगा कि कार्ल मार्क्स ने 1853 ईस्वीं में ही अंग्रेजों की इच्छा और आधुनिक उद्योगों के विकास पर अपनी राय जाहिर की थी। मार्क्स ने कहा था, "मुझे मालूम है कि अंग्रेज उद्योगपति अपने उद्योगों के लिए हम खर्चे में रुई और अन्य कच्चे माल को भारत से बाहर निकालने के लिए भारत में रेलवें की स्थापना करना चाहते है। लेकिन जिस देश में लोहा और कोयला मिलता है, उस देश में मशीन का इस्तेमाल शुरु हो जाने पर फिर उस देश को मशीनों के निर्माण से वंचित रखना असंभव है। किसी उतने बड़े देश में रेलवें का जाल आप बिठाए बैठे तो रेलवें के संचालन की तात्क्षणिक और आसन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औद्योगिक प्रक्रियाएँ भी अपनानी होंगी, और तब धीरे-धीरे उद्योग की उन शाखाओं में भी मशीन का इस्तेमाल होना स्वाभाविक है, जिनका रेलवें से सीधा संबंध नहीं। इस तरह रेलवें भारत में सही रूप में आधुनिक उद्योग का अग्रदूत है।"[138] मार्क्स ने बिल्कुल ठीक ही रेखांकित किया था। रेलवें ने भारतीय उद्योग के विकास में और औद्योगिक विकास ने राष्ट्रवाद के जन्म और विकास में ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया है।

रेलवे और रोडवेज के जरिए लोगों में प्रगतिशील सामाजिक और वैज्ञानिक विचारों का विकास हुआ। जीवन के लिए जरूरी साहित्य सुगमता से लोगों तक पहुँचने लगा। तत्पश्चात आधुनिक शिक्षा का विकास हुआ।

"राष्ट्रीयता के उद्भव में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका भारत के आधुनिक शिक्षित वर्ग ने निभाई। देश में यह पहला सामाजिक गुट था, जिसने इस तथ्य को पहचाना कि भारत में ब्रितानी सत्ता की स्थापना से तेजी के साथ अतीत से संबंध-विच्छेद हुआ है और एक नए ऐतिहासिक दौर का प्रारम्भ हुआ है।"[139] यह आधुनिक शिक्षित वर्ग आधुनिक शिक्षा पद्धति की ही देन था और "भारत में

आधुनिक शिक्षा के प्रसार का श्रेय विदेशी ईसाई मिशनरियों, ब्रिटिश सरकार और प्रगतिशील भारतीयों को है।"[140] ईसाई मिशनरियों का मूल उद्देश्य तो ईसाई धर्म का प्रचार करना था, लेकिन उनके कार्यों और उनकी शिक्षण संस्थाओं ने भारत में आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिए बड़ा कार्य किया। आधुनिक शिक्षा के प्रसार के संबंध में जहाँ तक ब्रिटिश सरकार की भूमिका का प्रश्न है तो उसके प्रति आलोचनात्मक विवेक की आवश्यकता होगी।

यह तो स्पष्ट ही है कि "अंग्रेजी को इतना अधिक महत्त्व देने का कारण यह था कि वे स्वभावतः यही चाहते थे कि शासन में कम खर्च हो। हर किरानी और सरकारी अफसर को इंग्लैण्ड से बुलाना पड़े। इससे आसान होगा कि यहीं निम्न श्रेणी के अफसरों का वर्ग तैयार किया जाय।"[141] फिर भी अगर यह देखा जाय तो कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि अंग्रेजों ने सारे देश में स्कूलों-कॉलेजों की स्थापना की, जिनसे हजारों भारतीयों ने उच्च-शिक्षा प्राप्त की। अपनी आवश्यकताओं के लिए अंग्रेजों ने जिस भारतीय वर्ग को तैयार किया, कालान्तर में उसी वर्ग ने राष्ट्रीय भावना का वाहक बनकर उनका घोर विरोध किया।

राष्ट्रवादियों ने कई मुद्दों पर आधुनिक शिक्षा की आलोचना की है। उनके अनुसार इस शिक्षा का भारतीय जन जीवन से कोई संबंध नहीं था। इससे भारतीय जीवन की सही झाँकी नहीं मिलती थी, न राजनीतिक गुलामी की और न भारतीय समाज के आर्थिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन के सही कारणों की। इसने भारतीय समस्याओं के प्रस्तुतिकरण और भारतीय दृष्टिकोण से उनके समाधान का कोई प्रयास नहीं किया।[142] लेकिन इस बात को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता कि जिस भारत में शिक्षा धर्म और जाति के खानों में बँटी थी, इस भारत में शिक्षा का एक धर्म निरपेक्ष और जातिनिरपेक्ष वातावरण तैयार हुआ। इस व्यवस्था में शिक्षा किसी के लिए भी सुलभ थी। "यह मात्र संयोग नहीं कि भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारम्भिक और परवर्ती नेता सभी शिक्षित वर्गों से आए।"[143] विदेशी दासता के अपमान की चुभन को सबसे पहले इन्हीं शिक्षित भारतीयों ने महसूस किया।[144] फिर भी आधुनिक शिक्षा को भारतीय राष्ट्रवाद का जन्मदाता नहीं माना जा सकता। हालाँकि अनेक ब्रिटिश राजनेताओं का दावा हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद में अंग्रेजों द्वारा लाई हुई आधुनिक शिक्षा का परिणाम है।[145] लेकिन झूठे दावे कर सच को मिटाया नहीं जा सकता। भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म वस्तुतः नई सामाजिक-भौतिक

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY • The M.S. University of Baroda

स्थितियों के कारण हुआ। उन नई सामाजिक शक्तियों के कारण जो अंग्रेजों की भारत विजय के बाद पैदा हुईं। यह विभिन्न स्वार्थों के वस्तुनिष्ठ संघर्ष का परिणाम था, "अंग्रेजों का स्वार्थ जो भारत को राजनीतिक और आर्थिक तौर पर गुलाम बनाए रखने में था और भारतीय जनता का हित जो ब्रिटिश शासन से मुक्त भारतीय समाज के स्वतंत्र राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में निहित था।"[146]

प्रो. बिपिनचंद्र लिखते हैं, "हमें यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि राष्ट्रीय आंदोलन आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की उपज नहीं था, बल्कि वह ब्रिटेन तथा भारत के हितों के टकराव से उत्पन्न हुआ था। इस प्रणाली ने किया यह कि शिक्षित भारतीयों को पाश्चात्य विचार अपनाकर राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व सँभालने तथा उसे एक जनतांत्रिक और आधुनिक दिशा देनें में समर्थ बनाया।"[147]

स्वाधीनता आंदोलन में राष्ट्रवाद का स्वरूप

प्रेमचंद के समय में स्वाधीनता आंदोलन और राष्ट्रवाद एक-दूसरे से नाभिनाल संबंध रखते हैं। स्वाधीनता आंदोलन ने ही भारतीय राष्ट्रवाद को व्यक्तित्व दिया। भारत में राष्ट्रवाद का महत्त्व भी इसी दृष्टि से ज्यादा है और उसने आम भारतीय में राष्ट्र के प्रति प्रेम और विश्वास पैदा किया और सर्वथा नई चेतना प्रदान की।

स्वाधीनता आंदोलन में राष्ट्रवाद के स्वरूप पर विचार करते हुए यह उचित होगा कि हम इसे चरणों में बाँटकर विश्लेषित करें। ए. आर. देसाई लिखते हैं, "भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के कई चरण थे। जैसे-जैसे यह एक चरण से दूसरे चरण की तरफ बढ़ा, इसका सामाजिक आधार भी व्यापक होता गया, इसके लक्ष्य अधिकाधिक साहसिक हुए और अधिक स्पष्टता से परिभाषित हुए और यह विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुआ। भारत और सारे विश्व में विभिन्न शक्तियों के विकास के फलस्वरूप भारतीयों ने अधिकाधिक तादाद में राष्ट्रीय चेतना अपनाई और राष्ट्रीय आंदोलन की कक्षा में आए। राष्ट्रीय जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक हर क्षेत्र में यह राष्ट्रीय जागरण परिलक्षित हुआ।"[148]

राष्ट्रवाद के पहले चरण को हम सन् 1885 ईस्वीं तक मान सकते हैं। यह वर्ष बाद में भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में एक निर्णायक वर्ष माना गया। इसी वर्ष 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना हुई। इसके पूर्व की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक घटनाओं और आंदोलनों ने भारत में राष्ट्रीयता के भाव को पैदा करना शुरू कर दिया था। सन् 1857 ईस्वीं में पहला राजनीतिक विद्रोह हुआ, जिसे भारतीय अपने स्वाभिमान की संगठित अभिव्यक्ति के रूप में याद करते हैं। यह ठीक ही है कि उसे प्रथम स्वाधीनता संग्राम के रूप में याद किया जाता है।

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि राजा राममोहन राय और ईश्वरचंद विद्यासागर जैसे आरम्भिक सुधारवादियों ने जो काम किए, उन्होंने भी राष्ट्रीय चेतना को जागृत और विकसित करने में अपनी भूमिका निभाई। यहाँ पर यह प्रसंग याद करना उचित ही होगा कि सन् 1840 ईस्वीं के आस-पास महाराष्ट्र में 'परमहंस मण्डली ' के द्वारा गोपाल हरि देशमुख ने बहुत बल देकर कहा था, "पुरोहित बहुत ही अपवित्र हैं, क्योंकि कुछ बातों को बिना उनका अर्थ समझे दुहराते रहते हैं और ज्ञान को इसी रटंत तक भोंडे ढंग से सीमित करके रख देते हैं। ------ पण्डित तो पुरोहितों से भी बुरे हैं क्योंकि वे और भी अज्ञानी हैं तथा अहंकारी भी हैं ---- ब्राह्मण कौन हैं और किन अर्थों में वे हमसे भिन्न हैं? क्या उनके बीस हाथ हैं और हममें कोई कमी है? अब जब ऐसे सवाल पूछे जाएँ तो ब्राह्मणों को अपनी मूर्खतापूर्ण धारणाएँ त्याग देनी चाहिए; उन्हें यह मान लेना चाहिए कि सभी मनुष्य बराबर हैं तथा हर व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार हैं।"[149]

स्वाधीनता आंदोलन के पहले चरण में विकसित हुए राष्ट्रवाद के स्वरूप पर विचार करते हुए विवेकानंद के कार्यों की स्मृति आवश्यक है। यह विवेकानंद ही थे जिन्होंने लिखा था कि "दुनिया के सभी दूसरे राष्ट्रों में हमारा अलगाव ही हमारे पतन का कारण है और शेष दुनिया की धारा में समा जाना ही इसका एकमात्र समाधान है। गति जीवन की चिह्न है।"[150] विवेकानंद ने यह भी कहा था कि "हमारी अपनी मातृभूमि के लिए दो महान धर्मों - हिन्दुत्व और इस्लाम का संयोग ही ------ एकमात्र आशा है।"[151] विवेकानंद शिक्षा के महत्त्व को राष्ट्रीयता के विकास में जरूरी मानते थे। यह अकारण नहीं है कि उन्होंने कहा, "जब तक

लाखों-लाख लोग भूख और अज्ञान से ग्रस्त हैं, मैं उस हर व्यक्ति को देशद्रोही कहूँगा जो उसके खर्चे पर शिक्षा पाकर भी उन पर कोई ध्यान नहीं देता।"[152]

पहले चरण के राष्ट्रवाद के स्वरूप के सिलसिले में स्वामी दयानंद सरस्वती और उनके आर्य-समाज को भी नकारा नहीं कहा जा सकता। "आर्य-समाजी सुधार के प्रमुख समर्थक थे। स्त्रियों की दशा सुधारने तथा उनमें शिक्षा का प्रचार करने के लिए उन्होंने बहुत से काम किए। उन्होंने छुआछूत तथा वंश परम्परा पर आधारित जाति-प्रथा की कठोरता का विरोध किया। इस तरह उन्होंने जनता में आत्मसम्मान तथा स्वावलम्बन की भावना भी जगाई। इससे राष्ट्रवाद को बढ़ावा मिला।"[153] सामाजिक-धार्मिक सुधारों के क्रम में मुस्लिम समाज में बदलाव के महानायक सर सैय्यद अहमद खान के विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं।

उन्होंने स्वाधीनता संग्राम के आरम्भिक वर्षों (सन् 1883) में साम्प्रदायिक टकराव के विरुद्ध में कहा था, "हम दोनों भारत की हवा में साँस लेते हैं और गंगा-यमुना का पवित्र जल पीते हैं हम दोनों भारत की धरती का अनाज खाकर जीवित रहते हैं। जीवन और मृत्यु, दोनों में हम एक साथ हैं। भारत में हमारे निवास ने हम दोनों का खून बदल डाला है, हमारे शरीरों के रंग एक हो चुके हैं, हमारे हुलिए समान हो चुके हैं। मुसलमानों ने अनेक हिन्दू रिवाजों को अपना लिया है तथा हिन्दुओं ने मुसलमानों के आचार - विचार की बहुत सी बातें ले ली हैं। ------ इसलिए हम अपने जीवन के उन पक्षों को छोड़े जो ईश्वर से संबंधित हैं तो निःसंदेह इस आधार पर कि हम दोनों एक ही देश में रहते हैं, हम एक राष्ट्र हैं तथा देश की , तथा हम दोनों की प्रगति और कल्याण हमारी एकता, पारस्परिक सहानुभूति और प्रेम पर निर्भर है, जबकि हमारे पारस्परिक मतभेद अकड़ विरोध तथा दुर्भावना निश्चित ही हमें नष्ट कर देंगी।"[154] स्वाधीनता संग्राम के आरम्भिक वर्षों में बुद्धिजीवियों-राजनेताओं ने अपने ऐसे ही विचारों से धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद का स्वरूप तैयार किया था।

स्वाधीनता संग्राम के आरम्भिक वर्षों में हुए तमाम धार्मिक-सामाजिक सुधार के आंदोलनों ने भारतीय जनता की चित्तवृत्ति को निर्मल किया और उनमें आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान जैसी भावना को विकसित किया। परिणामस्वरूप लोगों के मन में देश के प्रति गर्व का भाव जागा। पंडित जवाहरलाल नेहरू जी ने

इस संदर्भ में उचित ही कहा है कि, "उभरते हुए मध्यवर्गों का राजनीतिक रुझान था और उन्हें धर्म की खोज उतनी नहीं थी, लेकिन उनमें इच्छा थी कि वे किसी सांस्कृतिक मूल का सहारा ले सकें-किसी ऐसी वस्तु का जो उनको अपनी शक्ति का अनुभव कराए, कोई ऐसी वस्तु जो कुण्ठा तथा अपमान की उस भावना को कम करे, जो विदेशियों की विजय तथा भावना को कम करें, जो विदेशियों की विजय तथा उनके शासन ने उनके अन्दर उपजा दिए थे।"[155] इस प्रकार से हमें पता चलता है कि सन् 1885 तक विभिन्न धार्मिक-सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों के फलस्वरूप जो राष्ट्रवाद विकसित हुआ, उसका स्वरूप बहुत हद तक धर्म निरपेक्ष था।

प्रेमचंद के लेखन में राष्ट्र की अवधारणा राजनीतिक से ज्यादा सामाजिक-सांस्कृतिक है। प्रेमचंद राष्ट्र को लेकर बराबर सचेत रहे। उनके लिए यह सैद्धांतिक प्रश्न महत्त्वपूर्ण न था कि राष्ट्र किन तत्त्वों से मिलकर बनता है, बल्कि यह महत्त्वपूर्ण था कि बने हुए राष्ट्र की राजनीतिक-सामाजिक और सांस्कृतिक स्थापनाएँ क्या हैं? वे भारत के संबंध में जिस राष्ट्र की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं, वह हिन्दू राष्ट्र, मुस्लिम राष्ट्र या कोई अन्य धार्मिक राष्ट्र न होकर एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है और उसमें भी वह किसानों मज़दूरों का राष्ट्र है। स्वराज के प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने अपनी रचनाओं में राष्ट्र संबंधी अपने विचार भी व्यक्त किए हैं।

सन् 1919 की फरवरी में लिखे अपने लेख 'पुराना जमाना : नया जमाना' में राष्ट्र संबंधी अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नब्बे फीसदी आबादी किसानों को हो, उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसानों की भलाई का आंदोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रयत्न न हो। आपने सैकड़ों मदरसे और कालेज बनवाएँ, यूनिवर्सिटियाँ खोलीं और अनेक आंदोलन चलाए, मगर किसके लिए? सिर्फ अपने लिए, सिर्फ अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए और शायद अपने राष्ट्र की जो कसौटी आपके दिमाग में थी, उसको देखते हुए आपका आचरण जरा भी आपत्तिजनक न था। मगर नए जमाने में एक नया पन्ना पलटा है। आने वाला जमाना मजदूरों और किसानों का है।"[156] यह कहना नहीं होगा कि राष्ट्र को अभिजात्य स्वरूप प्रदान करने के विरुद्ध थे। वे एक जन पक्षधर राष्ट्र की

आवश्यकता पर बल देते थे, क्योंकि उन्हें पता था कि अगर राष्ट्र उच्च वर्ग के हाथों चला गया तो भारत में ग़रीबी गुलामी के लिए अभिशप्त हो जाएगें। अंग्रेजों से मिली आज़ादी झूठी और निरर्थक ही होगी। इस सोच की गहराई का पता इस बात से चलता है कि प्रेमचंद इस प्रश्न को अपनी कहानियों, लेखों और टिप्पणियों में बहुत शिद्दत से उठाते हैं।

प्रेमचंद जिस प्रकार राष्ट्र की अपनी अवधारणा में स्पष्ट है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता की अवधारणा में भी। उनका स्पष्ट मत था कि "जागा हुआ राष्ट्र कभी अपने को गुलामी की दशा में रखना बर्दाश्त नहीं कर सकता।"[157] जब कोई राष्ट्र जागेगा तो राष्ट्रीयता का मतलब भी समझेगा।

यहाँ अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि प्रेमचंद राष्ट्रीयता के प्रगतिशील पहलू को ही महत्त्व देते थे। उनके लिए राष्ट्रीयता जागृति के अर्थ में ही महत्त्वपूर्ण थी। रंगभूमि में वे डा. गांगुली से कहलवाते हैं, "आज मेरे दिल से यह विश्वास उठ गया, जो गत चालीस वर्षों से जमा हुआ था कि गवर्नमेंट हमारे ऊपर न्यायालय से शासन करना चाहती है। आज उस न्यायाबल की कलई खुल गई, हमारी आँखों से परदा उठ गया और हम गवर्नमेंट को उसके नग्न, आवरणहीन रूप में देख रहे हैं। अब हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि केवल हमको पीसकर तेल निकालने के लिए हमारा अस्तित्व मिटाने के लिए, हमारी सभ्यता और मनुष्यत्व की हत्या करने के लिए, हमको अनंत काल तक चक्की का बैल बनाए रखने के लिए हमारे ऊपर राज्य किया जा रहा है।"[158] कहने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य विरोधी कार्यों के विरुद्ध जागृत राष्ट्रीयता ही प्रेमचंद की अभीष्ट राष्ट्रीयता है। उन्होंने 4 दिसम्बर 1933 को लिखा था, "कोई जाति सदैव आश्रित बनकर नहीं रह सकती। शिक्षा के साथ उसका स्वाभिमान भी जागृत होगा और वह राष्ट्रीयता का महत्त्व समझेगीं।"[159]

प्रेमचंद के इस कथन से स्पष्ट होता है कि उनकी राष्ट्रीयता सिर्फ उप-निवेशवाद के विरोध तक सीमित न थी। वे राष्ट्रीयता का व्यापक अर्थ लेकर चल रहे थे। उनकी राष्ट्रीयता का आधार भारतीय समाज की एकता में था। वे अंग्रेजों की 'फूट डालो, राज करो' की नीति को पहचान गए थे और वे यह भी जानते थे कि ब्रिटिश सरकार अपनी नीति से भारत में राष्ट्रीयता की भावना को कमजोर

करना चाहती है। अंग्रेजों की उस नीति को उन्होंने अपनी कहानी का विषय बनाया और प्रभावशाली ढंग से सामान्य जनता में इस रहस्य को खोल दिया। इस विषय पर लिखी उनकी कहानी 'अधिकार की चिन्ता' का नायक है एक कुत्ता टामी। प्रेमचंद इसी कुत्ते को ब्रिटिश हुकूमत का प्रतीक बनाकर अपनी बात कहते हैं, "टामी ने एक नयी चाल चली वह कभी किसी पशु से कहता, फलाँ तुमको गाली देता था। जंगल के जन्तु उनके चक्कर में आकर आपस में लड़ जाते और टामी की चाँदी हो जाती।"[160] टामी की चाँदी न होने पाए इसलिए अन्य जानवरो में एक और समझ जागृत होनी चाहिए, प्रेमचंद ऐसा मन्तव्य देकर भारतीयों को सचेत करते हैं।

एक और राष्ट्र के रूप में भारत की निर्मिति में धर्म की भूमिका बस इतनी है कि भारतीय राष्ट्र अपने भीतर अनेक धर्मों को पुष्पित-पल्लवित होने के लिए समान अवसर प्रदान करता है। इसी अर्थ में भारतीय राष्ट्र धर्मनिरपेक्ष और भारतीय राष्ट्रवाद प्रगतिशील है।

प्रेमचंद अच्छी तरह जानते थे कि राष्ट्र की समस्याएँ किसी एक धर्म या जाति की समस्याएँ नहीं हैं। किसी भी युग में राष्ट्र की समस्या उस राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की समस्या होती है। उन्होंने लिखा है, "वास्तव में जो कुछ मतभेद हैं, वह केवल शिक्षित समुदाय के अधिकार और स्वार्थ का है। राष्ट्र के सामने जो समस्या है, उसका संबंध हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी से है। बेकारी से सभी दुखी हैं। दरिद्रता सभी का गला दबाए हुए है। नित नई-नई बीमारियाँ पैदा होती जा रही हैं। उसका वार सभी संप्रदायों से होता है। ------- ऐसी कोई सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक दुरावस्था नहीं है, जिससे राष्ट्र के प्रत्येक अंग पीड़ित न हो।"[161]

प्रेमचंद राष्ट्र की निर्मिति में स्त्री तथा दलित की भागीदारी को विस्मृत नहीं करते हैं। उनकी व्यापक सोच में एक 'सम्पूर्ण राष्ट्र' का निर्माण स्त्रियों और दलितों के बिना संभव नहीं था। आज भी नहीं है। उन्होंने अपने सम्पूर्ण कथा-साहित्य में स्त्री की समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया है। वे जानते थे कि अगर राष्ट्रवाद में व्यापकता होगी तो स्त्री को उसका उचित अधिकार और सम्मान मिलेगा, अन्यथा संकीर्ण राष्ट्रवाद तो स्त्री को इस्तेमाल की वस्तु ही समझता था।

आज तालिबान के द्‌वारा जिस राष्ट्रवाद की स्थापना अफगानिस्तान में हो रही है, वह स्त्रियों के लिए साक्षात् नर्क के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" राष्ट्रीयता वर्तमान युग का कोढ़ है, उसी प्रकार जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ साम्प्रदायिकता थी। नतीजा दोनों का एक ही है। सांप्रदायिकता अपने घेरे के अंदर पूर्ण शांति और सुख का राज्य स्थापित कर देना चाहती है, मगर उस घेरे के बाहर जो संसार था, उसको नोचने खसोटने में जरा भी मानसिक क्लेश न होता था। राष्ट्रीयता भी अपने परिमित क्षेत्र के अंदर रामराज्य का आयोजन करती है। उस क्षेत्र से बाहर का संसार उसका शत्रु हैं।"[162] कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रवाद को लेकर प्रेमचंद ने जो चिंतन किया, वह बहुत व्यवस्थित चिंतन हैं।

संदर्भ-सूची :-

1- विविध प्रसंग भाग-एक

2- विविध प्रसंग भाग-एक

3- विविध प्रसंग भाग-एक

4- विविध प्रसंग भाग-एक

5- विविध प्रसंग भाग-एक

6- साहित्य का उद्‌देश्य ; पृष्ठ : 3

7- साहित्य का उद्‌देश्य ; पृष्ठ : 13

8- साहित्य का उद्‌देश्य ; पृष्ठ : 9

9- साहित्य का उद्‌देश्य ; पृष्ठ : 15

10- साहित्य का उद्‌देश्य ; पृष्ठ : 25

11- विविध प्रसंग भाग-3 ; पृष्ठ-55

12- विविध प्रसंग भाग-3 ; पृष्ठ-35

13- विविध प्रसंग भाग-3 ; पृष्ठ-45

14- प्रेमचंद : विचारधारा और साहित्य : डॉ. बालकृष्ण पाण्डेय ; पृष्ठ-90

15- साहित्य का उद्‌देश्य ; पृष्ठ-45

16- साहित्य का उद्‌देश्य ; पृष्ठ-154

17- साहित्य का उद्‌देश्य ; पृष्ठ-235

18- प्रेमचंद : विचारधारा और साहित्य : डॉ. बालकृष्ण पाण्डेय ; पृष्ठ-107

19- प्रेमचंद पत्र-प्रसंग : मंगलमूर्ति ; पृष्ठ-11

20- प्रेमचंद पत्र-प्रसंग : मंगलमूर्ति ; पृष्ठ-12

21- मुख्यधारा और दलित साहित्य : ओमप्रकाश बाल्मीकि ; पृष्ठ-9

22- मुख्यधारा और दलित साहित्य : ओमप्रकाश बाल्मीकि ; पृष्ठ-145

23- मुख्यधारा और दलित साहित्य : ओमप्रकाश बाल्मीकि ; पृष्ठ-146

24- प्रेमचंद दीक्षित ; पृष्ठ-88

25- प्रेमचंद दीक्षित ; पृष्ठ-86

26- प्रेमचंद दीक्षित ; पृष्ठ-131

27- मुख्यधारा और दलित साहित्य : ओमप्रकाश बाल्मीकि ; पृष्ठ-13

28- डॉ. पी. एन. सिंह : हिन्दी दलित साहित्य : कुछ शंकाएँ, कुछ संभावनाएँ, सृजन संवाद, अंक-6 सितम्बर 2006, संपादक-ब्रजेश, लखनऊ ; पृष्ठ-205, 206

29- विविध प्रसंग : प्रेमचंद ; पृष्ठ-438

30- विविध प्रसंग : प्रेमचंद ; पृष्ठ-455

31- विविध प्रसंग : प्रेमचंद ; पृष्ठ-467

32- विविध प्रसंग : प्रेमचंद ; पृष्ठ- 467

33- विविध प्रसंग : प्रेमचंद ; पृष्ठ- 439

34- विविध प्रसंग : प्रेमचंद ; पृष्ठ- 471

35- विविध प्रसंग : प्रेमचंद ; पृष्ठ- 442

36- विविध प्रसंग : प्रेमचंद ; पृष्ठ- 474

37- कर्मभूमि : प्रेमचंद ; पृष्ठ-80

38- गोदान : प्रेमचंद ; पृष्ठ-78

39- समाचार-पत्र हिन्दुस्तान, लखनऊ ; 1 अगस्त 2004 में प्रकाशित

40- हिन्दी : प्रकृति और रचना संदर्भ : डॉ. रामचंद्र तिवारी ; पृष्ठ-178

41- मंगलाचरण ; पृष्ठ- 12

42- मंगलाचरण ; पृष्ठ-6

43- मंगलाचरण ; पृष्ठ-353

44- वरदान ; पृष्ठ-

45- सेवासदन ;पृष्ठ-

46- प्रेमाश्रम ; पृष्ठ-

47- भारत में सांप्रदायिक समस्या : राम नारायण यादवेन्दु ; पृष्ठ-10

48- स्वतंत्रता संग्राम : विपिनचंद्र ; पृष्ठ-28

49- प्रेमचंद विचारधारा और साहित्य : डॉ. बालकृष्ण पाण्डेय ; पृष्ठ-29

50- साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ : प्रभा दीक्षित ; पृष्ठ-34

51- प्रेमचंद विविध प्रसंग - भाग - 2; अमृतराय , पृष्ठ - 281

52- प्रेमचंद विविध प्रसंग - भाग - 2; अमृतराय , पृष्ठ - 281

53-विविध प्रसंग भाग - दो ; अमृतराय , पृष्ठ - 482

54-मेरी कहानी - पं. जवाहरलाल नेहरु ;पृष्ठ - 52

55- काँग्रेस का इतिहास ; पृष्ठ - 59

56- Peasants and workers Movement in India ; Page – 1

57-हिन्दुस्तान की कहानी ; जवाहरलाल नेहरू , पृष्ठ - 63

58-A Biography – Vol. – I ; Javaharlal Nehru : Page – 42

59-Peasant and workers Movement in India ; Page – 40

60-हिन्दुस्तान की कहानी ; पृष्ठ - 489

61-चिट्ठी-पत्री भाग -एक ; पृष्ठ - 93

62-उपर्युक्त

63-भारतीय किसान : प्रेमचंद - रामवक्ष सिंह; पृष्ठ-217

64-मैनेजर पाण्डेय का वक्तव्य जनमत पत्रिका में-अंक-1; पृष्ठ-33

65-मानसरोवर भाग-1; पृष्ठ-116

66-प्रेमचंद : विविध प्रसंग - भाग - 2 - अमृतराय; पृष्ठ-483

67-प्रेमचंद : विविध प्रसंग - भाग - 2 - अमृतराय; पृष्ठ-484-85

68-प्रेमचंद : विविध प्रसंग - भाग - 2 - अमृतराय; पृष्ठ-486

69-प्रेमचंद : विविध प्रसंग - भाग - 2 - अमृतराय; पृष्ठ-486

70-प्रेमचंद : विविध प्रसंग - भाग - 2 - अमृतराय; पृष्ठ-487

71-भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ-4

72- प्राचीन शासन व्यवस्था और राजशास्त्र - डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार; पृष्ठ-35

73-वैदिककालीन राजव्यवस्था ; पृष्ठ-54

74- वैदिककालीन राजव्यवस्था ; पृष्ठ-54

75-फ्रेडरिक हर्ट्ज - नेशनेलिटी इन हिस्ट्री एण्ड पोलिटिक्स ; पृष्ठ-6-7'

76- फ्रेडरिक हर्ट्ज - नेशनेलिटी इन हिस्ट्री एण्ड पोलिटिक्स ; पृष्ठ-5

77-अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक सिद्धांत ;भाग-1 ; शान्तिबाला ; पृष्ठ-142

78-ए. आर. देसाई -भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि; पृष्ठ-1-2

79-ऋग्वैदिक आर्य ; पृष्ठ-333

80-विलियम इबेन्सटेन-माडर्न पोलिटिकल थाट ;पृष्ठ-760

81-राजनीति शस्त्र ; पृष्ठ-572

82-उपर्युक्त ; पृष्ठ-575

83-रिकवरी ऑफ फेथ (सत्य की ओर)-अनुवाद श्रीराम नाथ 'सुमन' पृष्ठ-51

84-धर्मनिरपेक्षता बनाम धर्म ळ बहुमत ; अंक-3; पृष्ठ-11

85-धर्मनिरपेक्ष राज्य के मध्ययुगीन भारतीय विचार : एक पुनर्विवेचन - इक्तदार आलमखान ; बहुमत-अंक-3 ; पृष्ठ-52

86-हरिजन, 9 अगस्त 1942 आनंद टी हिंगोरानी द्वारा संकलित 'द-हिन्दू-मुस्लिम युनिटी' में पृष्ठ-130

87-राजनीति शास्त्र ; पृष्ठ-487

88-राजनीति शास्त्र - डॉ. ए. डी. आशीर्वादम्; पृष्ठ-574

89-बीसवीं शताब्दी के नवोद्बोध की पृष्ठभूमि में विरचित संस्कृत महाकाव्यों में राष्ट्रीय चेनता - डॉ. महराजदीन पाण्डेय ; पृष्ठ-8-9

90-भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि ; पृष्ठ-308

91-नेशनलिज्म में व्यक्त विचार

92-आधुनिक राजनीतिक विचारधारा - स्रोत : डॉ. गंगादत्त तिवारी की पुस्तक ; पृष्ठ-238

93-हंस , नवम्बर 1998, पृष्ठ-35

94- आधुनिक राजनीतिक विचारधारा - स्रोत : डॉ. गंगादत्त तिवारी की पुस्तक; पृष्ठ-239

95- आधुनिक राजनीतिक विचारधारा - स्रोत : डॉ. गंगादत्त तिवारी की पुस्तक ; पृष्ठ-714

96- आधुनिक राजनीतिक विचारधारा - स्रोत : डॉ. गंगादत्त तिवारी की पुस्तक ; पृष्ठ-713

97-उपर्युक्त

98- आधुनिक राजनीतिक विचारधारा - स्रोत : डॉ. गंगादत्त तिवारी की पुस्तक ;पृष्ठ-714

99- राजनीति शास्त्र - डॉ. ए. डी. आशीर्वादिम ;पृष्ठ-714

100-उपर्युक्त

101-उपर्युक्त ; 715

102-आधुनिक राजनीतिक विचारधारा - स्रोत : डॉ. गंगादत्त तिवारी की पुस्तक ;पृष्ठ-243

103-आधुनिक राजनीतिक विचारधारा - स्रोत : डॉ. गंगादत्त तिवारी की पुस्तक ; पृष्ठ-243

104-आधुनिक राजनीतिक विचारधारा - स्रोत : डॉ. गंगादत्त तिवारी की पुस्तक ;पृष्ठ-253

105-राजनीतिक सिद्धांत, पृष्ठ-253

106- आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ ;पृष्ठ-193

107-राजनीति विज्ञान ; पृष्ठ-704

108-उपर्युक्त

109-राजनीति विज्ञान ; पृष्ठ-706

110-उपर्युक्त

111- आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ ; पृष्ठ-190

112-उपर्युक्त

113-राजनीति विज्ञान ; पृष्ठ-716

114- आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ ; पृष्ठ-190

115- राजनीति विज्ञान ; पृष्ठ-716

116- राजनीति शास्त्र - डॉ. ए. डी. आशीर्वादम ;पृष्ठ-716

117- राष्ट्र और राज्य - जैनेन्द्र कुमार ; पृष्ठ-59

118- राष्ट्र चिंतन ; पृष्ठ-129-30

119-भारत की मौलिक एकता ; पृष्ठ-185

120-उपर्युक्त -उपर्युक्त ; पृष्ठ-186

121-संस्कृति के चार अध्याय ; पृष्ठ-331

122-भारत की मौलिक एकता ; पृष्ठ- 125

123- उपर्युक्त

124- प्राचीन भारतीय शासन पद्धति : अनन्त सदाशिव अल्तेकर ; पृष्ठ-50

125- भारत का ऐतिहासिक क्रम विकास एवं अन्य निबंध : स्वामी विवेकानंद; पृष्ठ- 8

126- बीसवीं शताब्दी के नवोद्बोध की पृष्ठभूमि में विरचित संस्कृत महकाव्यों में राष्ट्रीय चेतना : डॉ. महाराजदीन पाण्डेय; पृष्ठ-10

127- हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद : डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ; पृष्ठ-49-50

128- उपर्युक्त

129- हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद : डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ; पृष्ठ- 50

130- उपर्युक्त ; पृष्ठ-26

131- भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ : डॉ. रामविलास शर्मा ; पृष्ठ-34

132- भारत की राष्ट्रीय संस्कृति : डॉ. एस आबिद हुसैन ; पृष्ठ-25

133- भारतीय स्वाधीनता आंदोलन और राष्ट्रवाद : जितेन्द्र श्रीवास्तव ; पृष्ठ-27

134- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए. आर. देसाई ; पृष्ठ-127

135- उपर्युक्त ; पृष्ठ-4

136- The devlupment of Capatilist Interpraize in India : D. H. v=Vyukenan ; Page-176

137- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : डी. आर. गाडगिल (द्वितीय स्रोत - ए. आर. देसाई) ; पृष्ठ-102

138- उपनिवेश के बारे में : कार्ल मार्क्स ; पृष्ठ-101

139- स्वतंत्रता संग्राम : प्रो. विपिन चंद्र ; पृष्ठ-34

140- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए. आर. देसाई ; पृष्ठ- 112

141- स्पीचेज : जी के गोखले ; पृष्ठ-74-75

142- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए. आर. देसाई ; पृष्ठ- 124

143- उपर्युक्त ; पृष्ठ-126

144- आधुनिक भारत : प्रो. बिपिनचंद्र ; पृष्ठ-138

145- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए. आर. देसाई ; पृष्ठ-127

146- उपर्युक्त

147- आधुनिक भारत : प्रो. बिपिनचंद्र ; पृष्ठ-138

148- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि : ए. आर. देसाई ; पृष्ठ-349

149- आधुनिक भारत : गोपाल हरिदेशमुख , प्रो. बिपिनचंद्र ; पृष्ठ-152

150- आधुनिक भारत : प्रो. बिपिनचंद्र ; पृष्ठ-152

151- उपर्युक्त

152- उपर्युक्त ; पृष्ठ-154

153- आधुनिक भारत : प्रो. बिपिनचंद्र ; पृष्ठ-153

154- उपर्युक्त ; पृष्ठ-156

155- आधुनिक भारत : प्रो. बिपिनचंद्र ; पृष्ठ-159

156- विविध प्रसंग-भाग-1 ; पृष्ठ-269

157- उपर्युक्त ; पृष्ठ-420

158- रंगभूमि : प्रेमचंद ; पृष्ठ-479

159- विविध प्रसंग भाग-2 पृष्ठ-33

160- मानसरोवर-खण्ड-6 ; पृष्ठ-194

161- विविध प्रसंग-भाग-2 ; 'एकता सम्मेलन' ; पृष्ठ-372

162- विविध प्रसंग भाग-2 ; पृष्ठ-333

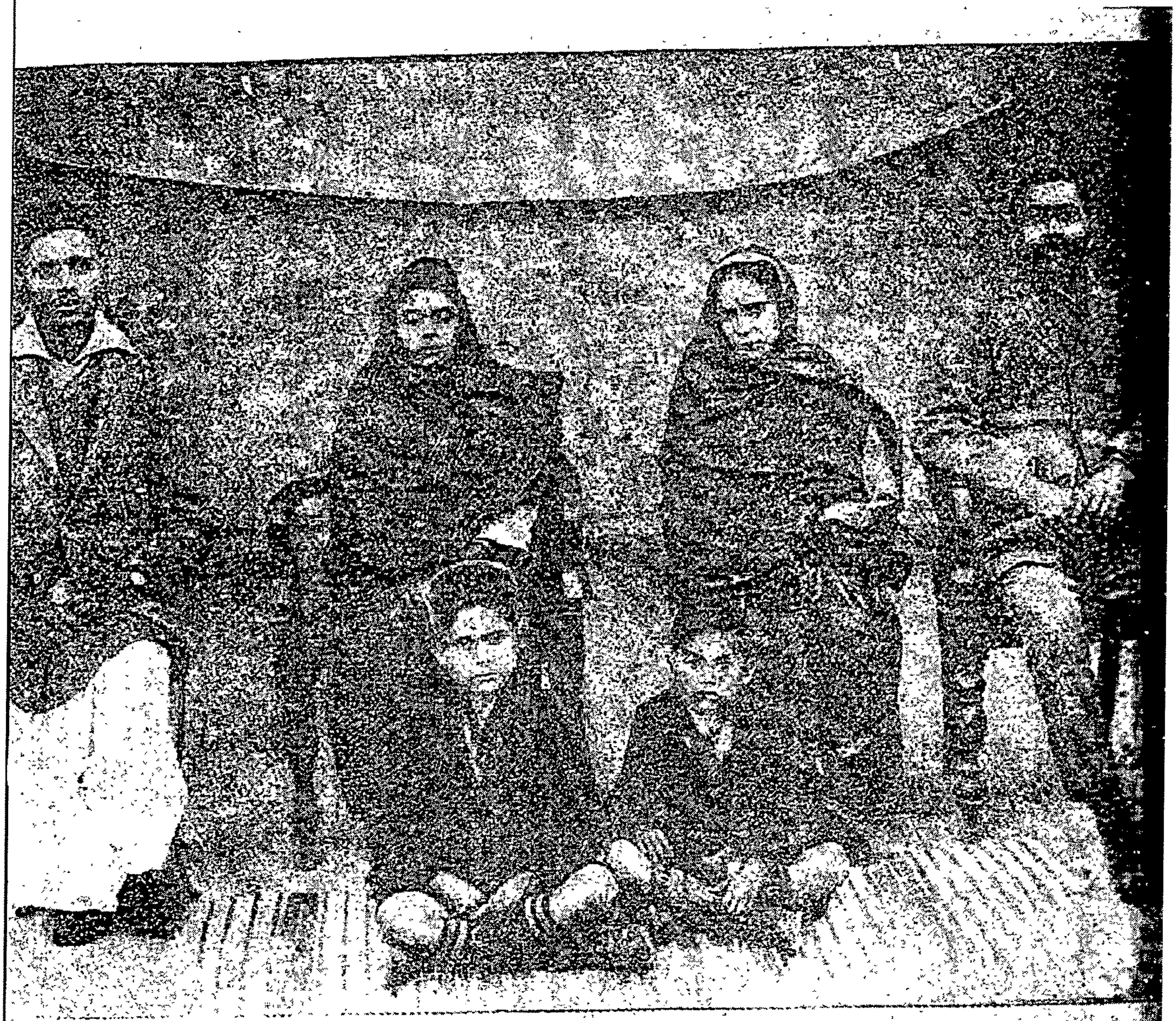

प्रेमचंद सपरिवार

कुर्सी पर, बायें से) रामजी, बेटी कमला, शिवरानी देवी, प्रेमचंद (नीचे) दोनों लड़के, धुन्नू और